विपश्यना विशोधन विन्यास

## विषय-सूची

**सुत्तन्तेसु असन्तेसु, पमुट्ठे विनयम्हि च।**
**तमो भविस्सति लोके, सूरिये अत्थङ्गते यथा॥**
(अ० नि० अट्ठ० १.१.१३०, दुतियपमादादिवग्गवण्णना)

– धर्मसूत्र विद्यमान न रहने पर और धर्मपालन विस्मृत हो जाने पर संसार में सूर्यास्त सदृश अंधकार छा जाता है।

**सुत्तन्ते रक्खिते सन्ते, पटिपत्ति होति रक्खिता।**
**पटिपत्तियं ठितो धीरो, योगक्खेमा न धंसति॥**
(अ० नि० अट्ठ० १.१.१३०, दुतियपमादादिवग्गवण्णना)

– धर्मसूत्र सुरक्षित रहने पर प्रतिपत्ति यानी साधना का प्रतिपादन सुरक्षित रहता है। प्रतिपादन में लगा हुआ धीर व्यक्ति योगक्षेम से वंचित नहीं होता है।

## भूमिका

"तिपिटक में सम्यक सम्बुद्ध", "तिपिटक में सद्धर्म" और "तिपिटक में आर्यसंघ" वस्तुतः तिपिटक की भूमिकाएं ही हैं। लंबी भूमिकाएं हैं जिन्हें पाठकों की सुविधा के लिए दो-दो भागों में प्रकाशित किया जा रहा है। इनके लिए एक छोटी-सी भूमिका और लिखनी आवश्यक समझी गयी। इसी के परिणामस्वरूप ये चंद शब्द हैं।

लगभग चालीस वर्ष पूर्व सितंबर, १९५५ में जब मैंने पहली बार परम पूज्य गुरुदेव सयाजी ऊ बा खिन के चरणों में बैठ कर विपश्यना के शिविर में भाग लिया तब यह देख कर सुखद आश्चर्य से अभिभूत हो उठा कि भगवान बुद्ध का यह प्रयोगात्मक प्रशिक्षण कितना निर्मल है, निर्दोष है! कितना निश्छल है, निष्कलंक है! कितना सार्वजनीन है, सार्वभौमिक है! कितना सार्वकालिक है, सनातन है और कितना वैज्ञानिक तथा आशुफलदायी है!

बचपन से यही सुनता और मानता आया था कि भगवान बुद्ध ईश्वर के नौवें अवतार हैं। इसलिए हमारे लिए पूज्य हैं, अतः भगवान बुद्ध के प्रति सहज श्रद्धा थी। घर के बड़े बुजुर्गों के साथ मांडले (बर्मा) में भगवान बुद्ध के महामुनि मंदिर में जाकर उनकी प्रतिमा के शांत, सौम्य, स्निग्ध चेहरे का दर्शन कर, सादर नमन करना तथा अत्यंत भक्तिभाव से फूल चढ़ाना और दीप जलाना बहुत प्रिय लगता था। परंतु साथ-साथ बचपन में ही मानस पर यह भी एक लेप लगा दिया गया था कि भगवान बुद्ध परम पूज्य और प्रणम्य हैं तो भी उनकी शिक्षा हमारे लिए ग्राह्य नहीं है। यह मान्यता कितनी मिथ्या साबित हुई।

अवश्य ही किसी पुराने पुण्य का फलोदय हुआ जिसके कारण ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई कि दस दिन के लिए मां विपश्यना की सुखद गोद में जा बैठा। काम, क्रोध और अहंकार के अंतस्ताप से सतत तापित, संतापित रहने वाले मानस को दस दिनों में ही जो शांति प्राप्त हुई, उससे हर्ष-विभोर हो उठा। शिविर में सम्मिलित होने के पूर्व परम पूज्य गुरुदेव ने विपश्यना

विद्या की जो रूपरेखा समझायी, वह बड़ी निर्दोष लगी। फिर भी बचपन से लगे हुए पुराने लेपों के कारण मन में कुछ झिझक थी ही। परंतु दस दिन पूरे होने पर यह देख कर मन बड़ा प्रसन्न, संतुष्ट हुआ कि इस मार्ग में कहीं कोई दोष है ही नहीं। विपश्यना का सारा पथ सर्वथा निष्कलुष और निर्दोष है। अतः गृहस्थ हों या संन्यासी सबके लिए सर्वथा ग्राह्य है, उपयोगी है।

भगवान बुद्ध की ऐसी निर्दोष शिक्षा के प्रति मन में जो अनेक मिथ्या भ्रांतियां थीं, उनका निराकरण हुआ। आखिर शील-सदाचार का जीवन जीने में क्या दोष है भला! सहज स्वाभाविक सांस के आवागमन के प्रति सजग रहते हुए चित्त को एकाग्र कर समाधिस्थ हो जाने में क्या दोष है भला! शरीर और चित्त के पारस्परिक प्रभाव-क्षेत्र का यथाभूत दर्शन करते हुए अंतर्मन की गहराइयों में विकारों के तथा तज्जन्य व्याकुलता के प्रजनन और संवर्धन का निरीक्षण करते हुए इस प्रपंच के प्रति अनित्यबोधिनी प्रज्ञा जगा लेने में क्या दोष है भला! इस अनुभवजन्य प्रज्ञा के आधार पर समता में स्थित होकर मन को विकार-विमुक्त बना लेने में तथा यों निर्मलचित्त हुए साधक द्वारा इंद्रियातीत नित्य, शाश्वत, ध्रुव अवस्था का साक्षात्कार कर सकने की क्षमता प्राप्त कर लेने में क्या दोष है भला! इस निर्दोष पथ पर उठाया हुआ हर कदम कल्याणकारी है।

एक धर्मभीरु परिवार में जन्मा और पला, इस कारण खूब समझता था कि शील-सदाचार का पालन अवश्य करना चाहिए। इसके लिए आवश्यक मनोबल बढ़ाने की विधि इस शिविर में सीखी। चित्त की एकाग्रता और विकार-विमुक्ति का लक्ष्य तो पहले भी था पर इसे पूरा कर सकने का सहज सरल मार्ग इस विधि ने प्रशस्त किया। प्रज्ञा के बारे में बहुत पढ़ा था, बहुत चिंतन-मनन भी किया था परंतु इससे जो लाभ मिलना चाहिए, उससे वंचित था। प्रज्ञा का सही अर्थ ही नहीं समझ पाया था तो लाभ मिलता भी कैसे? अब तक तो परोक्ष ज्ञान को ही प्रज्ञा समझ रहा था। सुना-सुनाया, पढ़ा-पढ़ाया ज्ञान वस्तुतः श्रुत-ज्ञान होता है, जिसे श्रद्धा द्वारा स्वीकार किया जा सकता है। चिंतन-मनन करके उसे युक्ति-युक्त मान लें तो वही चिंतन-ज्ञान हो जाता है। पर ये दोनो ही परोक्ष ज्ञान हैं, पराये ज्ञान हैं।



स्वानुभूति के स्तर पर प्रत्यक्ष ज्ञान हो तो ही प्रज्ञान है। यही प्रज्ञा है। विपश्यना द्वारा इसी प्रत्यक्ष ज्ञान का अभ्यास किया। इस अभ्यास की निरंतरता कैसे बनाये रखें, यह भी सीखा। इस निरंतरता में पुष्ट होना ही प्रज्ञा में स्थित होना है, यह भी खूब समझ में आया। तब ऐसे लगा कि जिस स्थितप्रज्ञता को अपने जीवन का आदर्श मान रखा था, वह तो केवल एक सैद्धांतिक बात थी। बहुत हुआ तो उस पर चिंतन-मनन कर लिया। परंतु वह भी मात्र बौद्धिक प्रक्रिया ही हुई। विपश्यना ने प्रज्ञा के व्यावहारिक पक्ष का प्रयोगात्मक मार्ग प्रशस्त किया। प्रज्ञा के बल पर वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह, वीतभय होने के व्यावहारिक पक्ष का प्रयोगात्मक मार्ग प्रशस्त किया। विपश्यना कोरा उपदेश नहीं है, कोरा चिंतन-मनन नहीं है, बल्कि मनोविकारों को जड़ से उखाड़ देने की व्यावहारिक प्रक्रिया है, इसका स्पष्ट अनुभव हुआ।

पहले ही शिविर में शील, समाधि और प्रज्ञा के विशुद्ध सुधारस का जो यत्किंचित स्वाद चखा और उससे जो आंतरिक प्रश्रब्धि और प्रशांति की अनुभूति हुई उससे मन में एक धर्म-संवेग जागा कि चित्त विशुद्धि की इस कल्याणी साधना के अभ्यास को पुष्ट करते हुए; इसके सैद्धांतिक पक्ष से भी अवगत होना चाहिए। अतः बुद्ध-वाणी पढ़ने का निश्चय किया। परंतु वह लगभग पंद्रह हजार पृष्ठों के विशाल साहित्य में निहित थी, सो भी पालिभाषा में, जिसका मुझे रंचमात्र भी ज्ञान नहीं था। सौभाग्य से महापंडित राहुल सांकृत्यायनजी, भिक्षु आनंद कौसल्यायनजी, भिक्षु जगदीश काश्यपजी, भिक्षु धर्मरत्नजी तथा भिक्षु धर्मरक्षितजी ने बुद्ध-वाणी के कुछ ग्रंथों के हिंदी अनुवाद कर दिये थे। उन्हें भारत से मँगा कर पढ़ना आरंभ किया। पढ़ते हुए बड़ा आह्लाद होता था, विपश्यना साधना को बड़ा बल मिलता था।

सन १९६२ से ६४ के बीच एक और महान पुण्य का फलोदय हुआ जिसके कारण व्यवसाय और उद्योग के संचालन-संबंधी उत्तरदायित्व से सर्वथा मुक्ति मिली। अब जीवन में अवकाश ही अवकाश था। सन् १९६९ तक बुद्ध-वाणी के हिंदी अनुवाद को ही नहीं, बल्कि मूल पालि के भी कुछ

सूत्रों को पढ़ सकने का अवसर प्राप्त हुआ। मूल पालि में इन सूत्रों को पढ़ते समय अत्यंत प्रीति-प्रमोद जागता था; तन-मन पुलक-रोमांच से भर उठता था। सामान्यतया पालिभाषा बहुत सरल लगी, प्रिय लगी और प्रेरणा-प्रदायक भी। उन सूत्रों की परम पूज्य गुरुदेव द्वारा की गयी व्याख्या का मन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा और उस व्याख्या के आधार पर विपश्यना साधना का अभ्यास करते हुए जो अनुभव हुआ, वह अद्भुत था, अपूर्व था। परियत्ति याने बुद्ध-वाणी, और प्रतिपत्ति याने उसके सक्रिय अभ्यास, के पावन संगम के कारण धर्म का शुद्ध स्वरूप अधिक उजागर होता गया। इस अमृत-सागर में गोते लगाते हुए देखा कि विपश्यना का पथ अत्यंत शुद्ध है, पवित्र है, सुख-शांति प्रदायक है; जात-पांत के भेदभाव से, सांप्रदायिक बाड़ेबंदी से, उलझाने वाली दार्शनिक मान्यताओं से और थोथे कर्मकांडों से सर्वथा मुक्त है। इस पथ पर उठाया गया हर कदम हर किसी व्यक्ति के लिए यहीं इसी जीवन में विकार-विमुक्ति के सुखद परिणाम देने वाला है।

मुझे लगा कि कल्याणी बुद्ध-वाणी और भगवती विपश्यना को खोकर हमारे देश ने अपनी एक अत्यंत गौरव, गरिमामय पुरातन अध्यात्म-विद्या खो दी। शुद्ध सनातन आर्य-धर्म खो दिया। भारत के उन ऐतिहासिक महापुरुष को खो दिया जो नितांत निश्छल थे, निष्कपट थे, निष्प्रपंच थे, निष्कलुष थे; जो अनंत मैत्री और करुणा के साक्षात अवतार थे। एक ऐसे महामानव को खो दिया जो केवल भारत में ही नहीं बल्कि सकल विश्व में अनुपम थे, अनुत्तर थे, अप्रतिम थे, अद्वितीय थे, असदृश थे; जिनकी पावन शिक्षा के कारण भारत वस्तुतः विश्व-गुरु बना; भारत की भूमि विश्व के करोड़ों लोगों के लिए पूजनीय तीर्थभूमि बनी। उन भगवान गौतम बुद्ध को और उनकी कल्याणी वाणी तथा दुःख-विमोचनी विपश्यना विद्या को पुनः प्रकाश में लाना हमारे लिए सर्वथा लाभप्रद ही लाभप्रद है।

लगभग २००० वर्षों के लंबे अंतराल के बाद सौभाग्य से सन् १९६९ में विपश्यना का भारत में पुनरागमन हुआ है। भारत के प्रबुद्ध लोगों ने इसे सहर्ष स्वीकार किया है। साधकों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है।



देखता हूं कि विपश्यना शिविरों में सम्मिलित होने वाले अनेक साधक भगवान बुद्ध के मूल उपदेशों से अवगत होना चाहते हैं। मैं उनकी इस धर्म जिज्ञासा को खूब समझ सकता हूं, क्योंकि मैं स्वयं इस अवस्था में से गुजरा हूं। यह भी समझता हूं कि आज के भारत में पालिभाषा में बुद्ध-वाणी उपलब्ध नहीं है। नव नालंदा महाविहार ने लगभग पैंतीस वर्ष पूर्व जो प्रकाशन किया था, वह अब सर्वथा अनुपलब्ध है। परंतु यह प्रसन्नता की बात है कि विपश्यना विशोधन विन्यास ने न केवल बुद्ध-वाणी बल्कि उसकी अर्थकथाओं, टीकाओं और अनुटीकाओं के संपूर्ण पालि-साहित्य के प्रकाशन का बीड़ा उठाया है। लेकिन सभी साधक तो पालि पढ़ नहीं पायेंगे। हिंदी भाषी साधकों के लिए हिंदी अनुवाद आवश्यक है। जो अनुवाद पहले हुए थे, दुर्भाग्य से उनमें से भी अधिकांश अब उपलब्ध नहीं हैं। विपश्यना विशोधन विन्यास की एक योजना पुरातन पालि साहित्य के हिंदी अनुवाद करने की भी है, परंतु उसमें बहुत समय लगेगा।

अतः अपनी सामर्थ्य-सीमा को जानते हुए भी तिपिटक की एक बृहद भूमिका लिखने का साहस किया जिससे साधकों को हिंदी भाषा में भगवान बुद्ध और उनकी शिक्षा के बारे में अधिक से अधिक और सही-सही जानकारी मिल सके। पालि तिपिटक में से कुछ उद्धरणों और प्रेरक प्रसंगों को एकत्र करने लगा। जानता हूं कि आज के अधिकांश साधकों की वही अवस्था है जो १९५५ में मेरी थी। भगवान बुद्ध और उनकी पावन शिक्षा के बारे में उनका ज्ञान अत्यल्प है और भ्रामक भी। उन भ्रांतियों को दूर करने के लिए मूल पालि में सुरक्षित बुद्ध-वाणी का ही आश्रय लेना आवश्यक है। पालि भाषा ही हमें भगवान बुद्ध के अत्यंत समीप पहुँचाती है, क्योंकि यही उनकी मातृभाषा कोशली थी जो कि तत्कालीन विस्तृत और शक्तिशाली कोशलदेश की जनभाषा होने के कारण उस सारे मध्यदेश में बोली और समझी जाती थी जो कि भगवान बुद्ध की चारिका भूमि रही। कालांतर में इसे सम्राट अशोक ने अपने प्रशासन और धर्मलेखों के लिए अपना लिया और क्योंकि उसकी राजधानी पाटलिपुत्र मगध में थी और कोशलप्रदेश भी मगध साम्राज्य में समा गया था, अतः यही कोशली भाषा

मागधी कहलायी जाने लगी। इसने भगवान बुद्ध की वाणी को पाल-सँभाल कर रखा, इसलिए पालि कहलायी।

इसमें सुरक्षित भगवद्-वाणी में सर्वत्र भगवान बुद्ध का कल्याणकारी धर्मकायिक व्यक्तित्व समाया हुआ है, उनके द्वारा प्रवाहित धर्म की अमृत-वाणी का कलकल निनाद समाया हुआ है, उनकी वाणी से प्रभावित होकर और उनके बताये मार्ग पर चल कर निहाल हुए गृह-त्यागियों और गृहस्थों के आदर्श जीवन का भव्य दर्शन समाया हुआ है जो कि साधकों के लिए प्रभूत प्रेरणा-प्रदायक है।

तिपिटक में उनसे संबंधित प्रेरक सामग्री इतनी अधिक मात्रा में है कि कोई कितना भी चयन करे, तृप्ति हो ही नहीं पाती, वैसे ही जैसे कि भगवान बुद्ध के जीवनकाल में उनके गृहस्थ शिष्य हत्थक आलवक ने कहा कि–

"भगवान, मैं आपका दर्शन करते-करते अतृप्त ही रहा।"

"भगवान, मैं आपकी वाणी सुनते-सुनते अतृप्त ही रहा।"

तिपिटक भिन्न-भिन्न प्रकार के सुंदर और सुरभित पुष्पों का एक वृहद मनोरम उद्यान है। मैंने उनमें से थोड़े फूल चुन कर उन्हें माला में गूंथने का प्रयत्न किया है। कहीं-कहीं अर्थकथाओं में से बुद्धपुत्रों की वाणी के भी इक्के-दुक्के नयनाभिराम सुमन लेकर गूंथ लिए हैं। यह सब वैसे ही हुआ जैसे कि भगवान बुद्ध के गुणों का गान करते हुए भावविभोर गृहपति उपालि ने कहा था–

**सेय्यथापि, भन्ते, नानापुप्फानं महापुप्फरासि**

– जैसे कि, भंते, नाना प्रकार के पुष्पों की एक महान पुष्प-राशि हो,

**तमेनं दक्खो मालाकारो वा मालाकारन्तेवासी वा**

– जिसे लेकर कोई दक्ष माली अथवा उस माली का अंतेवासी शिष्य,

**विचित्तं मालं गन्थेय्य** – सुदर्शिनी माला गूंथे।

**एवमेव खो, भन्ते, सो भगवा अनेकवण्णो, अनेकसतवण्णो**



– इसी प्रकार, भंते, वे भगवान अनेक प्रशंसनीय गुणवाले हैं, अनेक सौ प्रशंसनीय गुण वाले हैं।

**को हि, भन्ते, वण्णारहस्स वण्णं न करिस्सति?**

(म० नि० २.७७, उपालिसुत्त)

– भंते, प्रशंसनीय की प्रशंसा कौन नहीं करेगा? गुणवंतों के गुण कौन नहीं गायेगा?

उन्हीं गुणवंत भगवान के, उनके सिखाये धर्म के, उस धर्म को धारण कर निर्मल-चित्त हुए संतों के गुण गाने की चाह मेरे भीतर भी जागनी स्वाभाविक थी।

इसी भाव में बुद्ध-वाणी के कुछ एक सुंदर सुरभित सुमनों को चुन-चुन कर यह माला गूंथी गयी है; सद्धर्म के अगाध रत्नाकर से कुछ एक अनमोल रत्न चुन-चुन कर यह रत्न-खचित आभूषण गढ़ा गया है; सद्धर्म के असीम सुधा-सागर में से अमृत की कुछ एक बूंदें लेकर धर्म-सुधा-रस की यह गगरी भरी गयी है।

यह सुंदर सुरभित सुमनों की माला, यह महार्घ रत्नजड़ित स्वर्णाभूषण, यह शांतिप्रदायिनी सुधारस-गगरी, विपश्यी साधकों को तथा अन्यान्य शांतिप्रेमी पाठकों को धर्मपथ पर आरूढ़ होने और उत्तरोत्तर आगे बढ़ते रहने के लिए–

प्रभूत प्रेरणा का कारण बने!
उनके अपरिमित हित-सुख का कारण बने!
उनके असीम मंगल-कल्याण का कारण बने!
उनकी स्वस्ति-मुक्ति का कारण बने!
यही कल्याण कामना है।

**कल्याणमित्र,**

बुद्ध जयंती, १९९५

**सत्यनारायण गोयन्का**

## संकेत-सूची

अ० नि० = अङ्गुत्तरनिकाय
अट्ठ० = अट्ठकथा
अप० = अपदान
इतिवु० = इतिवुत्तक
उदा० = उदान
कथा० = कथावत्थु
खु० नि० = खुद्दकनिकाय
खु० पा० = खुद्दकपाठ
चरिया० = चरियापिटक
चूळनि० = चूळनिद्देस
चूळव० = चूळवग्ग
जा० = जातक
थेरगा० = थेरगाथा
थेरीगा० = थेरीगाथा
दी० नि० = दीघनिकाय
ध० प० = धम्मपद
ध० स० = धम्मसङ्गणि
धातु० = धातुकथा
नेत्ति० = नेत्तिप्पकरण
पटि० म० = पटिसम्भिदामग्ग
पट्ठा० = पट्ठान
परि० = परिवार
पाचि० = पाचित्तिय
पारा० = पाराजिक
पु० प० = पुग्गलपञ्ञत्ति
पे० व० = पेतवत्थु
पेटको० = पेटकोपदेस
बु० वं० = बुद्धवंस
म० नि० = मज्झिमनिकाय
महाव० = महावग्ग
महानि० = महानिद्देस
मि० प० = मिलिन्दपञ्ह
यम० = यमक
वि० व० = विमानवत्थु
विभ० = विभङ्ग
विसुद्धि० = विसुद्धिमग्ग
सं० नि० = संयुत्तनिकाय
सु० नि० = सुत्तनिपात

समस्त संदर्भ विपश्यना विशोधन विन्यास संस्करण के दिये जा रहे हैं। संदर्भ में सर्वप्रथम ग्रंथ का संक्षिप्त नाम यथा दीघनिकाय के लिये दी० नि०, भाग, उसके बाद अनुच्छेद संख्या दी गयी है। जहां अनुच्छेद संख्या निरंतर नहीं है वहां शीर्षक-उपशीर्षक या उनकी संख्या इत्यादि अनुच्छेद संख्या से पहले दिये गये हैं। जैसे कि संयुत्तनिकाय के लिये – पहले ग्रंथ का नाम, भाग, वग्ग की संख्या या शीर्षक तथा अनुच्छेद संख्या। इसी प्रकार अङ्गुत्तरनिकाय के लिये ग्रंथ का नाम, भाग, निपात तथा अनुच्छेद संख्या दी गयी है। जहां प्रमुख रूप से गाथाएं हैं, जैसे कि धम्मपद इत्यादि में, वहां अनुच्छेद संख्या की जगह गाथा संख्या दी गयी है।

# इतिपि सो भगवा बुद्धो

(क्रमशः)

## महामोग्गल्लान

वाणी से मौन होकर शरीर को अधिष्ठान (दृढ़ निश्चय) द्वारा अचल रख कर साधक भीतर विपश्यना ही करता रहता है। कायानुपश्यना करते हुए सारे शरीर का वेदन यानी अनुभवन करता है और छहो इंद्रियों के प्रति सजग रह कर उन्हें संयत रखता है। हम देखते हैं कि एक बार जब भगवान श्रावस्ती के जेतवनाराम में विहार कर रहे थे तब –

**आयस्मा महामोग्गल्लानो भगवतो अविदूरे निसिन्नो होति।**

– आयुष्मान महामोग्गल्लान भगवान से न अति दूर बैठे थे,

**पल्लङ्कं आभुजित्वा** – पालथी मारे,

**उजुं कायं पणिधाय** – शरीर को सीधा किये,

**कायगताय सतिया अज्झत्तं सूपट्ठिताय।**

– भीतर-ही-भीतर कायानुपश्यना की सजगता में भली-भांति प्रतिष्ठित होकर।

यह देख कर भगवान के मुँह से ये उदान वचन निकले –

**सति कायगता उपट्ठिता** – काया के प्रति सजगता स्थापित हो,

**छसु फस्सायतनेसु संवुतो** – बाह्य विषयों के संस्पर्श में आने वाली छहो इंद्रियां संयत हो,

**सततं भिक्खु समाहितो** – भिक्षु सतत समाहित रहता हो, तो –

**जञ्ञा निब्बानमत्तनो** – अपने निर्वाण को जान लेता है।

(उदा० २५, महामोग्गल्लानसुत्त)

**साधक वाणी से मौन और शरीर से स्थिर इसीलिए रहता है कि काया के भीतर की सच्चाइयों के प्रति सजग रहते हुए इंद्रियातीत निर्वाण का स्वयं साक्षात्कार कर ले।**

## चुल्लपंथक

इसी प्रकार एक बार जेतवन विहार में भगवान के समीप आयुष्मान चुल्लपंथक पालथी मार कर शरीर को सीधा किये सजग, स्मृतिमान हुए बैठे थे।

यह देख कर भगवान के मुँह से उदान के ये शब्द निकले–

**ठितेन कायेन ठितेन चेतसा** – स्थिर काया और स्थिर चित्त से,

**तिट्ठं निसिन्नो उद वा सयानो** – खड़े, बैठे या लेटे हुए,

**एतं सतिं भिक्खु अधिट्ठहानो** – अधिष्ठानपूर्वक एकाग्र होकर, स्मृतिमान रहता हुआ भिक्षु

**लभेथ पुब्बापरियं विसेसं** – पहले और पीछे की सभी अवस्थाओं में विशेष यानी सर्वश्रेष्ठ निर्वाण-अवस्था प्राप्त कर लेता है और–

**लद्धान पुब्बापरियं विसेसं** – इस सर्वश्रेष्ठ अवस्था को प्राप्त कर,

**अदस्सनं मच्चुराजस्स गच्छे** – वह मृत्युराज मार के लिए अदृश्य हो जाता है।

(उदा० ५०, चूळपन्थकसुत्त)

स्पष्ट है कि आर्य मौन का एकमात्र उद्देश्य मुक्त अवस्था तक पहुँचना ही है।

## सारिपुत्त

हम ऐसा ही एक और दृश्य देखते हैं।

स्थविर सारिपुत्त इसी प्रकार भगवान के समीप पालथी मारे, शरीर को सीधा किये–

**अत्तनो उपसमं पच्चवेक्खमानो,**

– निर्वाण द्वारा प्राप्त हुई अपनी उपशांत अवस्था का प्रत्यवेक्षण करते हुए बैठे थे।



भगवान ने सारिपुत्त की यह अवस्था देख कर उदान के ये शब्द प्रकट किये–

**उपसन्तसन्तचित्तस्स, नेत्तिच्छिन्नस्स भिक्खुनो।**

– जिस शांत-चित्त भिक्षु के विकारों का उपशमन हो गया, जिसकी भव-डोर टूट गयी,

**विक्खीणो जातिसंसारो, मुत्तो सो मारबन्धना।**

(उदा० ४०, सारिपुत्तउपसमसुत्त)

– उसका संसार में आवागमन रुक गया, वह मृत्यु के बंधन से मुक्त हो गया।

मौन-पालन से आरंभ की हुई साधना ने साधक को चरम लक्ष्य तक पहुँचा दिया।

मौन-पालन के लिए वातावरण का अनुकूल होना भी आवश्यक है। कोई साधक एकांत अरण्य में जाकर मौन-पालन करता हुआ साधना करता था। परंतु यदि साधक भगवान के समीप किसी विहार में रहता था, तो वहां भी साधना करने के लिए ही रहता था, जैसे-तैसे समय गुजारने के लिए नहीं। भगवान के विहार वस्तुतः ध्यान-केंद्र हुआ करते थे, इसीलिए विहार कहलाते थे, यानी जहां रह कर साधक अपने विकारों का विहरण कर सके, उनसे छुटकारा पा सके। वे निकम्मे, निराश्रित लोगों के जीवन गुजारने के लिए आश्रय-स्थान नहीं थे, इसलिए आश्रम नहीं कहलाते थे। वहां रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को गंभीरतापूर्वक साधना में रत रहना होता था। जो अनुद्योगी और आलसी होते थे, उन्हें फटकार पड़ती थी।

## नीत

श्रावस्ती के ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हो, प्रव्रजित हुआ भिक्षु नीत विहार में रहते हुए समय का सदुपयोग नहीं करता था। भगवान ने यह देख कर उसे प्रताड़ित किया–

**सब्बरत्तिं सुपित्वान, दिवा सङ्गणिके रतो।**

– जो सारी रात सोने में और दिन लोगों से मिलने-जुलने और गपशप में बिताये,

**कुदासु नाम दुम्मेधो, दुक्खसन्तं करिस्सति।** (थेरगा० ८४, नीतत्थेरगाथा)

– वह मूर्ख व्यक्ति किस प्रकार अपने दुःखों का अंत करेगा?

भगवान की यह प्रताड़ना पाकर भिक्षु नीत सदुद्योग में लग गया, जिसके फलस्वरूप मुक्त-अवस्था को प्राप्त हुआ और भव- दुःखों से छूट कर सर्वथा भव-मुक्त हो गया।

## कठोर अनुशासन

भगवान के विहार मटरगश्ती के लिए नहीं थे। विहार गंभीर तपस्वियों की तपोभूमि हुआ करते थे। अन्य लोग जो संप्रदायवादी थे, उनके आश्रमों में सदा हल्ला-गुल्ला बना रहता था। बतरस के लोभी आश्रमवासी निरर्थक बातें करके अपना दिन गुजारते रहते थे। उनकी तुलना में भगवान के विहारों में कठोर अनुशासन का पालन होता था। इसीलिए भगवान ने एक नियम बना रखा था। वे अन्यान्य संप्रदायों के व्यक्ति को तुरंत प्रव्रजित नहीं करते थे। जब कभी भगवान की वाणी सुन कर सद्धर्म के प्रति समुत्तेजित हो कोई सद्-गृहस्थ भगवान से प्रार्थना करता था कि उसे प्रव्रज्या मिले, तो साधारणतया उसकी यह प्रार्थना तुरंत स्वीकार कर ली जाती थी। परंतु जब इसी प्रकार समुत्तेजित होकर कोई पूर्व प्रव्रजित कहता था कि–

**लभेय्याहं, भन्ते, भगवतो सन्तिके पब्बज्जं, लभेय्यं उपसम्पदं।**

– भंते, भगवान के सान्निध्य में मैं प्रव्रज्या लिया चाहता हूं, उपसंपदा लिया चाहता हूं।

तो ऐसे लोगों को भगवान उत्तर देते थे–

**यो खो, सभिय, अञ्ञतित्थियपुब्बो, इमस्मिं धम्मविनये,**

– सभिय, यदि कोई व्यक्ति पहले किसी एक संप्रदाय में रहा हो और वह इस धर्मविनय में,



**आकङ्खति पब्बज्जं आकङ्खति उपसम्पदं** – प्रव्रज्या और उपसंपदा की आकांक्षा करे, तो–

**सो चत्तारो मासे परिवसति** – उसे चार मास का परिवास करना होता है। अर्थात बिना प्रव्रजित हुए ही भिक्षुसंघ के साथ रहना होता है।

**चतुन्नं मासानं अच्चयेन** – चार महीने व्यतीत हो जाने पर,

**आरद्धचित्ता भिक्खू पब्बाजेन्ति उपसम्पादेन्ति भिक्खुभावाय।**

(सु० नि० ५५२, सभियसुत्त)

– संतुष्ट और प्रसन्न होने पर भिक्षु उसे प्रव्रज्या और उपसंपदा देते हैं।

क्योंकि अधिकांश सांप्रदायिक आश्रमों में आश्रमवासी परिव्राजक संयमित, अनुशासित जीवन नहीं जीते थे, शायद इसीलिए यह प्रतिबंध लगाया गया होगा। वे रात भर खुर्राटे भरने और दिन भर गप्प लगाने के आदी थे। बड़ा ढीला-ढाला संन्यासी जीवन जीते थे। ऐसे लोग तत्काल प्रव्रजित कर लिये जायँ, तो डर था कि विहारों में ध्यान के अनुकूल शांत और एकांत वातावरण को कहीं वे दूषित न कर दें। अतः चार महीने के परिवास से वह नया प्रव्रज्यार्थी भी देख ले कि भिक्षु किस प्रकार अनुशासनबद्ध जीवन जीते हैं और वहां के भिक्षु भी देख लें कि यह व्यक्ति ऐसा ही अनुशासित जीवन जीकर विहार के वातावरण में समरस हो सकेगा या नहीं। इस जांच से संतुष्ट होने पर ही नवागंतुक को प्रव्रजित किया जाता था।

विहारों के अनुशासन में प्राथमिक महत्त्व का नियम था–

**धम्मी वा कथा अरियो वा तुण्हीभावो** – या तो धर्म-कथा अथवा आर्य मौन। (म० नि० १.२७३, पासरासिसुत्त)

धर्मकथा क्या होती थी?–

**इधावुसो सारिपुत्त, द्वे भिक्खू अभिधम्मकथं कथेन्ति।**

– आयुष्मान सारिपुत्त, यहां दो भिक्षु अभिधर्मसंबंधी वार्त्तालाप करते हैं।

**ते अञ्ञमञ्ञं पञ्हं पुच्छन्ति** – वे एक दूसरे से प्रश्न पूछते हैं।

**अञ्ञमञ्ञस्स पञ्हं पुट्ठा विस्सज्जेन्ति** – एक दूसरे के प्रश्न पूछने पर उत्तर देते हैं।

**नो च संसादेन्ति,**

– टालते नहीं।

**धम्मी च नेसं कथा पवत्तिनी होति।** (म० नि० १.३३७, महागोसिङ्गसुत्त)

– यों उनकी कथा धर्मप्रवर्तिनी होती है।

ऐसी धर्मचर्चा में एक जिज्ञासु साधक भिक्षु अपने अग्रज मार्गदर्शक से धर्मसंबंधी प्रश्न करे तो उसे यथोचित उत्तर मिलता था, प्रश्न करे या उत्तर दे, तो एक बार में एक ही व्यक्ति बोलता है। इससे वातावरण की शांति भंग नहीं होती। परंतु यदि विवाद करे, तो एक साथ अनेक लोग बोलने लगते हैं और हल्ला-गुल्ला होता है, कोलाहल होता है। इसके विपरीत एक-एक के प्रश्नोत्तर सुन कर अन्य अनेक भिक्षुओं के मन से भी धर्मसंबंधी शंकाओं का निवारण होता था, उन्हें प्रेरणा मिलती थी और वे आर्य मौन का पालन करते हुए ध्यान में निमग्न हो जाते थे।

जब भगवान बुद्ध जैसे कल्याणमित्र से धर्मसंबंधी व्याख्यान सुनते, तब तो कहना ही क्या? भिक्षु निहाल हो जाते थे।

एक बार भगवान श्रावस्ती में अनेक भिक्षुओं के साथ विहार कर रहे थे, उस अवसर पर –

**भगवा भिक्खू निब्बानपटिसंयुत्ताय धम्मिया कथाय।**

– भगवान ने निर्वाण से संबंधित धर्मकथा कह कर भिक्षुओं को –

**सन्दस्सेति** – भीतर का सत्य दिखा दिया।

**समादपेति** – धर्म के प्रति समुत्साहित कर दिया।

**समुत्तेजेति** – धर्म के प्रति समुत्तेजित कर दिया।

**सम्पहंसेति** – प्रसन्न, पुलकित कर दिया।



**तेध भिक्खू** – वे भिक्षु भी

**अट्ठिं कत्वा** – ध्यान देकर,

**मनसि कत्वा** – मन लगा कर,

**सब्बं चेतसो समन्नाहरित्वा** – पूर्णतया दत्तचित्त होकर,

**ओहितसोता** – कान लगा कर,

**धम्मं सुणन्ति** – धर्म सुनते रहे। (उदा० ७२, दुतियनिब्बानपटिसंयुत्तसुत्त)

जहां ऐसे प्रबुद्ध वक्ता हों और ऐसे समझदार, श्रद्धालु श्रोता हों, वहां कल्याणकारी परिणाम आने स्वाभाविक ही थे। भिक्षु अपना श्रेय साध लेते थे।

भिक्षुओं के लिए यही श्रेयस्कर था– **धम्मी वा कथा** (उदा० १२, राजसुत्त), जिसे सुनने के पश्चात **अरियो वा तुण्हीभावो** (उदा० १२, राजसुत्त) – आर्यमौन साध लें और यों मौन साध कर धर्म का निष्ठापूर्वक पालन करें।

## संघ की शोभा थे

**इधावुसो सारिपुत्त, भिक्खु पटिसल्लानारामो होति पटिसल्लानरतो,**

– आयुष्मान सारिपुत्त, जो भिक्षु ध्यान- सल्लीनता प्रेमी हो, ध्यान-सल्लीनता रत हो,

**अज्झत्तं चेतोसमथमनुयुत्तो अनिराकतज्झानो,**

– अपने भीतर चित्त की एकाग्रता में लगा हुआ, ध्यान करने से पीछे न हटने वाला हो,

**विपस्सनाय समन्नागतो** – विपश्यना-संपन्न हो,

**ब्रूहेता सुञ्ञागारानं** – वह शून्यागारों की संख्या बढ़ाने वाला होता है।

(म० नि० १.३३४, महागोसिङ्गसुत्त)

ऐसे ध्यानी भिक्षुओं के कारण ध्यान के स्थानों की संख्या बढ़ती रहती थी। वे स्थान सुशोभित होते थे और ऐसे निष्ठावान साधक ही अपने लक्ष्य-साधन में सफल होते थे। ध्यान-साधना के विहार में गंभीर साधना कर सकने का माहौल बना रहना आवश्यक था। इसीलिए साधकों को मौन साधे रखने की शिक्षा को इतना महत्त्व दिया जाता रहा। इसी में भिक्षु संघ की शोभा निहित थी।

## आदर्श मौन

हमने देखा कि गोसिंग शालवन में जो तीन शाक्यकुलीन भिक्षु साधना करते थे, वे पांच दिन मौन रह कर एक रात धर्मचर्चा करते थे। मौन का पालन इस कड़ाई से करते थे कि भोजन, पानी आदि की व्यवस्था के लिए जिस दिन जिस भिक्षु की बारी होती और यदि वह किसी काम को अकेला कर सकने में असमर्थ होता, तो–

**हत्थविकारेन** – हाथ के इशारे से,

अपने किसी साथी को बुलाता और काम पूरा कर लेता।

**न त्वेव मयं, भन्ते, तप्पच्चया वाचं भिन्दाम।**

(म० नि० १.३२७, चूळगोसिङ्गसुत्त)

– भंते, इसके लिए हम वाणी से नहीं बोलते, अपनी वाणी का मौन भंग नहीं करते।

व्यवस्था-संबंधी कोई कठिनाई हो, तो उसे इशारों से ही समझा कर पूरा कर लेते थे।

अच्छे साधक भिक्षु वन में भी मौन भंग नहीं करते थे। विहारों में तो मौन की और अधिक आवश्यकता थी। व्यवस्था की बात को लेकर कहीं वाणी का प्रयोग करना भी पड़े, तो वह बहुत धीमी आवाज में किया जाय। तेज आवाज बिल्कुल न हो। भगवान विहारों में जरा भी कोलाहल पसंद नहीं करते थे।



## यसोज

यसोज नाम का केवट भगवान की धर्मदेशना से प्रभावित होकर प्रव्रजित हुआ। उसे ध्यान से लाभ मिला, तो वह अपने पांच सौ साथियों को संघ में प्रव्रजित करवा उन्हें भगवान से मिलाने जेतवन विहार ले आया।

नये आये हुए भिक्षु विहारवासी भिक्षुओं से मिलते-मिलाते, अपने-अपने ठहरने के स्थानों को देखते-दिखाते, अपने-अपने पात्र-चीवर रखते-रखाते ऊंची आवाजों में बोल-बतिया रहे थे। विहार के शांत वातावरण को कोलाहल से भर रहे थे। शांति-प्रिय भगवान के शांत वातावरण वाले विहार के लिए यह अनहोनी घटना थी। भगवान ने सुना तो आनंद को बुला कर पूछा–

**के पनेते आनन्द, उच्चासद्दा महासद्दा?**

– आनंद, यह उच्च शब्दों, महा शब्दों में कैसा हल्ला-गुल्ला हो रहा है?

**केवट्टा मञ्ञे मच्छविलोपे** – मानो मछुए मछली पकड़ रहे हों।

आनंद ने भगवान को वस्तु-स्थिति बतायी।

भगवान ने यसोज सहित नवागंतुक भिक्षुओं को बुलाया। विहार की शांति भंग कर देने के अपराध में उन्हें दंड देते हुए कहा–

**गच्छथ, भिक्खवे** – भिक्षुओ, चले जाओ।

**पणामेमि वो** – मैं तुम्हें बाहर निकल जाने की आज्ञा देता हूं।

**न वो मम सन्तिके वत्थब्बं** – तुम मेरे साथ रहने योग्य नहीं हो।

(उदा० २३, यसोजसुत्त)

कोलाहल करने वाले लोग भगवान के साथ रहने के लायक नहीं थे। सबने सिर झुका कर भगवान की वंदना की और उनकी आज्ञा स्वीकार करते हुए अपने पात्र-चीवर ले, जेतवन-विहार से बाहर चले गये। यसोज

उन्हें वज्जि देश की ओर ले गये। वहां वग्गुमुदा नदी के किनारे सबने डेरा डाला।

यसोज बहुत समझदार थे। उन्होंने भगवान की प्रताड़ना का पूरा-पूरा लाभ उठाया। गुरु की चोट को विद्या की पोट मान कर उन्होंने अपने साथियों को समझाया कि भगवान ने बड़ी अनुकंपा करके ही हमें विहार-निष्कासन का यह दंड दिया है। बातचीत करने वाले को ऊंचे धर्म की उपलब्धि नहीं हुआ करती। अब हमें एकांतवास और मौन साधते हुए भगवान की बतायी हुई विपश्यना विधि का अभ्यास करना चाहिए। भगवान को संतुष्ट करने का यही एकमात्र तरीका है। निष्ठावान, ध्यानी भिक्षुओं से भगवान सदा प्रसन्न रहते हैं। यसोज ने सबको समझाया कि अच्छी साधना हमेशा अकेले की ही होती है, भीड़ की नहीं।

अपने अनुभवों के बल पर स्थविर यसोज ने उन पांच सौ भिक्षुओं के सम्मुख एकांत ध्यान की महत्ता का जो मंगल उद्घोष किया, वह उनके लिए तो कल्याणकारी सावित हुआ ही, भविष्य के विपश्यी साधकों के हित में भी सदा के लिए प्रेरणा का स्रोत बन गया। उन्होंने कहा–

**यथा ब्रह्मा तथा एको** – जहां साधक अकेला तपता है, वहां ब्रह्मा-सदृश तपता है।

**यथा देवो तथा दुवे** – लेकिन जहां दो मिल कर तपते हैं, वह स्थिति जरा हल्की हो जाती है। अत: दो साथ तपते हैं, तो दोनों देव-सदृश तपते हैं।

**यथा गामो तथा तयो** – और जहां तीन एक-साथ तपते हैं, वहां स्थिति और बदतर हो जाती है। अत: तीन साथ तपते हैं, तो मानो गांव हो गया है।

**कोलाहलं ततुत्तरिं** – संख्या तीन से अधिक होती है, तो बस कोलाहल ही होता है। (थेरगा० २४५, यसोजत्थेरगाथा)

और कोलाहल का परिणाम भुगत कर तो वे आये ही थे। अत: सबने नदी के किनारे अपनी-अपनी अलग-अलग पर्णकुटी बनायी और वहीं एकांत मौन साधते हुए विपश्यना में लग गये। वर्षावास पूरा होते-होते



पुरुषार्थ- पराक्रम करते हुए सबके सब अविद्या से मुक्त हुए। सभी ने तीनों विद्याएं प्राप्त कीं – दिव्य चक्षु प्राप्त किये, पूर्वजन्मों की स्मृति प्राप्त की और आस्रव क्षय विमुक्ति का अनुभूतिजन्य ज्ञान प्राप्त किया। सभी अरहंत हुए। सबका परिश्रम सफल हुआ।

वर्षावास पूरा होने पर भगवान भी वज्जिदेश आये और महावन के कूटागारशाला में विहार करने के लिए रुके। भगवान वस्तुत: किसी पर अनुकंपा करते हुए ही उसे दंड देते थे। उनका मानस करुणा से ओत-प्रोत रहता था। उन्होंने बोधि-चित्त से यसोज और उसके साथियों की गतिविधि देखी, उनकी उपलब्धि जानी। वग्गुमुदा नदी के तट पर पांच सौ एक अरहंत विहार कर रहे थे, भगवान का हृदय करुणा-मिश्रित आह्लाद से भर गया। भगवान ने आनंद को बुला कर कहा–

**आलोकजाता विय मे, आनन्द, एसा दिसा।**

– हे आनंद, उस दिशा में मुझे आलोक जागा हुआ लगा।

**ओभासजाता विय मे, आनन्द, एसा दिसा।**

– हे आनंद, उस दिशा में मुझे प्रकाश जागा हुआ लगा।

**यस्सं दिसायं वग्गुमुदातीरिया भिक्खू विहरन्ति।** (उदा० २३, यसोजसुत्त)

– उस दिशा में जहां वग्गुमुदा नदी के तीर पर भिक्षु विहार कर रहे हैं।

महाकारुणिक धर्मपिता ने निष्कासित किये गये अपने तपस्वी धर्मपुत्रों को वापस बुला लिया। सबके सब भगवान के पास चले आये। संध्या का समय था, भगवान ध्यान में बैठे थे। सभी भिक्षुओं ने अपने चित्त से भगवान के चित्त को जान कर समझ लिया कि वे इस समय चौथे ध्यान में स्थिर, समाधिस्थ हैं। सभी भिक्षु मौन रह कर भगवान के सामने बैठ गये और **आनेञ्ज** समाधि यानी चौथे ध्यान की स्थिर समाधि में लीन हो गये।

**एतं बुद्धानवन्दनं** – यही बुद्ध की सही वंदना है।
(अप० थेरी २.२.१७१, महापजापतिगोतमीथेरीअपदान)

इससे बढ़ कर और क्या वंदना होती भला?

जब तक कच्चे साधक थे, तब तक तीन से अधिक एकत्र होने पर कोलाहल करते थे, परंतु अब पक कर अरहंत हो गये, तो एक साथ तपना सुख का कारण बन गया है।

**सुखा सङ्घस्स सामग्गी, समग्गानं तपो सुखो॥** (ध० प० १९४, बुद्धवग्ग)

– संघ की एकता सुखदायी है और सुखदायी है संघ का सामूहिक तप।

समय बीतता गया। दिन ढल गया। रात सरकती गयी। रात का पहला याम समाप्त हुआ। भगवान और सारे भिक्षु ध्यान में लीन रहे।

आनंद अभी शैक्ष्य थे। वे पूरी वस्तु-स्थिति नहीं समझ पा सके। वे चाहते थे कि भगवान उन भिक्षुओं से दो शब्द बोलें। वे अपने आसन से उठ, सम्मान प्रदर्शित करते हुए, चीवर को एक कंधे पर रख कर, भगवान की ओर आमुख होकर, हाथ जोड़ कर बोले –

भंते, रात हो गयी है। रात का पहला याम पूरा हो गया है। आगंतुक भिक्षु देर से बैठे हैं। भगवान उनसे कुशल-क्षेम पूछें।

आनंद के इस कथन का कोई असर नहीं हुआ। सभी समाधिस्थ थे, सभी मौन थे। भगवान भी समाधिस्थ थे, मौन थे।

रात का मँझला याम पूरा हुआ। आनंद की चिंता बढ़ी। ये बेचारे भिक्षु कब से बैठे हैं। उन्होंने फिर हाथ जोड़ कर भगवान से प्रार्थना की। कोई असर नहीं हुआ। चारों ओर गहरी निस्तब्धता छायी रही।

रात का पिछला याम भी पूरा हुआ। पूर्व में सूरज की किरणें फूटने लगीं। आनंद से नहीं रहा गया। उन्होंने फिर हाथ जोड़ कर भगवान से कहा – भंते, रात पूरी हुई। रात का पिछला याम भी बीत गया। अब तो सूर्य उदय हो गया है। आगंतुक भिक्षु बहुत देर से बैठे हैं। भगवान उनसे कुशल-क्षेम तो पूछें। भगवान ने आंख खोली और आनंद से कहा – आनंद, यदि तुम जानते, तो अभी भी कुछ नहीं बोलते। ये सारे भिक्षु और मैं चौथे ध्यान में लीन बैठे थे।

(उदा० २३, यसोजसुत्त)



कोलाहल के अपराध से मुक्त हुए भिक्षुओं ने नितांत मौन रह कर अपने मौन-प्रिय शास्ता की अभिवंदना की। आनंद बाधक न बनते, तो भगवान अपने इन ध्यानी शिष्यों के साथ न जाने और कितनी देर मौन ध्यान में बिताते। भगवान के लिए तो यह सरल बात थी।

**अहं खो, आवुसो निगण्ठा, पहोमि** – आयुष्मान निर्ग्रंथो, मैं समर्थ हूं कि,

**अभासमानो वाचं** – बिना कुछ बोले, मौन रहते हुए,

एक ही नहीं बल्कि –

**द्वे रत्तिन्दिवानि तीणि... चत्तारि... पञ्च... छ... सत्त रत्तिन्दिवानि**

– दो, तीन, चार, पांच और छः ही नहीं, बल्कि सात रात और सात दिन लगातार –

**एकन्तसुखं पटिसंवेदी विहरितुं।** (म० नि० १.१८०, चूळदुक्खक्खन्धसुत्त)

– एकांत ध्यान का सुख अनुभव करते हुए बिता सकता हूं।

इसी प्रकार उनके कई शिष्य एवं शिष्याएं भी बिना हिले-डुले, बिना बोले पूरा सप्ताह ध्यान की सुखद स्फुरणा में बिता दिया करती थीं। कोई-कोई तो ऐसे दृढ़निश्चयी थे, जो यह संकल्प लेकर एकासन में बैठते थे कि –

**न तावाहं इमं पल्लङ्कं भिन्दिस्सामि।**

– मैं तब तक यह आसन नहीं तोड़ूंगा, यानी आसन नहीं बदलूंगा,

**याव मे नानुपादाय आसवेहि चित्तं विमुच्चिस्सति।**

(म० नि० १.३४५, महागोसिङ्गसुत्त)

– जब तक कि मेरा चित्त आसक्ति और आस्रवों से पूर्णतया विमुक्त नहीं हो जायगा।

ऐसे साधकों से ही ध्यान-स्थलों की शोभा बढ़ती थी। साथ-साथ यह भी सच है कि ऐसे साधक ध्यान-स्थलों के अनुकूल वातावरण में ही पनपते

थे। साधक की प्रगति के लिए एकांत मौन द्वारा वातावरण को अनुकूल बनाये रखना नितांत आवश्यक था।

## सारिपुत्त और महामोग्गल्लान

इसी कारण विहारों में मौन, शांत वातावरण बनाये रखने के लिए भगवान बहुत सजग रहते थे। जहां तक एक-एक साधक धीमी आवाज में परस्पर धर्मसंबंधी प्रश्न पूछते और उत्तर देते, वहां तक विहार का वातावरण साधना के अनुकूल बना रहता था। परंतु जहां एक से अधिक लोग एक साथ, जोर- जोर से बोलने लगते थे, वहां हंगामा मच जाता था। ऐसा होने पर धर्म-साधना के विहारों में और अन्य सांप्रदायिक आश्रमों में कोई अंतर नहीं रह जाता था। ध्यान के विहार का वातावरण भी उसी अधोगति को प्राप्त हो जाता था। इसलिये इस क्षेत्र में अपराध करने वाला जो भी हो, भगवान के लिए वह अक्षम्य ही होता था।

यह नियम केवल शहरों के समीप स्थित विहारों पर ही नहीं लागू होता था, प्रत्युत शहर से दूर वन में भी जहां साधक भिक्षु ध्यान करते थे, उसे मौन और शांत बनाये रखना आवश्यक माना जाता था। भगवान एक बार शाक्य जनपद गये हुए थे। वहां चातुमा के आमलिक वन में भगवान विहार कर रहे थे। वहां सारिपुत्त और महामोग्गल्लान के साथ आये हुए पांच सौ नये-नये प्रव्रजित भिक्षु उसी प्रकार मछली-बाजार का सा हल्ला-गुल्ला करने लगे, जैसे केवट यसोज के साथ आये हुए उसके पांच सौ साथी भिक्षुओं ने किया था। हमें यह देख कर आश्चर्य होता है कि इस अपराध के लिए भगवान सारिपुत्त और महामोग्गल्लान जैसे अग्र महाश्रावकों को भी नहीं बख्शते। उन्हें भी वैसा ही दंड देते हुए कहते हैं–

**गच्छथ, भिक्खवे** – चले जाओ, भिक्षुओ,

**पणामेमि वो** – मैं तुम्हें यहां से निकालता हूं।

**न वो मम सन्तिके वत्थब्बं** – तुम मेरे साथ रहने योग्य नहीं हो।

(म० नि० २.१५७, चातुमसुत्त)



भगवान का मतलब साफ था। वे भगवान के साथ रहने लायक नहीं थे। जो अपने साथियों को मौन न रख सके, वे चाहे अग्र महाश्रावक ही क्यों न हो, मौन-प्रेमी भगवान के साथ रहने लायक नहीं थे। अपने साथियों सहित भगवान को नमन कर उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर दोनों अग्र महाश्रावक भगवान से दूर चले गये।

चारों ओर सन्नाटा छा गया। भगवान के दाहिने और बायें हाथ सदृश सारिपुत्त और महामोग्गल्लान मौन तोड़ने के अपराध में विहार से निकाल दिये गये। ध्यान-स्थली के नियमों का पालन करना नितांत आवश्यक था। कोई नियम भंग करेगा, तो भगवान अनुशासन की कार्यवाही करेंगे ही।

सारिपुत्त और मोग्गल्लान के बिना धर्म- प्रसारण का काम सुचारु रूप से कैसे चलेगा? इसी चिंता में ग्रस्त चातुमा के शाक्य कुछ समय बाद इन भिक्षुओं की सिफारिश लेकर भगवान के पास आये और कुछ देर के बाद सहम्पति ब्रह्मा भी भगवान के पास प्रकट हुए और उन निकाले गये भिक्षुओं की सिफारिश करते हुए बोले–

**अभिनन्दतु, भन्ते, भगवा भिक्खुसङ्घं** – भंते, भगवान भिक्षुसंघ पर प्रसन्न हों।

**अभिवदतु, भन्ते, भगवा भिक्खुसङ्घं** – भंते, भगवान भिक्षुसंघ से बातचीत करें।

(म० नि० २.१५८, चातुमसुत्त)

भंते भगवान, ये नये-नये प्रव्रजित भिक्षु हैं। भगवान का सान्निध्य नहीं पायेंगे तो मुरझा जायेंगे। जैसे नये-नये अंकुरित पौधे जल न मिलने से मुरझा जाते हैं। जैसे नन्हा बछड़ा अपनी मां को न देखने से मुरझा जाता है।

भगवान ने निष्कासित भिक्षुओं को पुनः लौट आने की अनुमति दी। निष्कासन का दंड सदा के लिए लागू नहीं होता। समय देख कर भगवान उसे वापिस ले लेते थे। परंतु समय-समय पर ऐसे दंड न देते तो ध्यान- केंद्रों का अनुशासन कैसे चुस्त रह पाता?

## सुजाता

ध्यान-केंद्रों की तो बात ही क्या, भगवान किसी गृहस्थ के घर जाते, तो वहां भी हल्ला-गुल्ला नहीं पसंद करते थे। एक बार भगवान अपने गृहस्थ शिष्य उपासक अनाथपिंडिक के घर गये और वहां हो रहे कोलाहल के बारे में पूछते हुए बोले–

**किं नु ते, गहपति, निवेसने मनुस्सा उच्चासद्दा महासद्दा केवट्टा मञ्ञे मच्छविलोपे?**

– हे गृहपति, तुम्हारे घर में यह कैसा हल्ला-गुल्ला है, मानो मछुवे मछली मार रहे हों?

**अयं, भन्ते, सुजाता घरसुण्हा अड्ढकुला आनीता।**

– भंते, यह बहू सुजाता धनवान कुल से आयी है।

**सा नेव सस्सुं आदियति, न ससुरं आदियति, न सामिकं आदियति,**

– यह न सासु का कहना मानती है, न ससुर का कहना मानती है और न ही स्वामी का कहना मानती है।

**भगवन्तम्पि न सक्करोति न गरुं करोति न मानेति न पूजेति।**

– भगवान का भी न सत्कार करती है, न गौरव करती है, न उनका मान करती है, न उनकी पूजा करती है। (अ० नि० २.७.६३, भरियासुत्त)

भगवान ने सुजाता को अपने पास बुलाया और बड़े प्यार से, अत्यंत कुशलतापूर्वक आदर्श गृहिणी होने का उपदेश देकर उसके अशांत स्वभाव को पलटा।

## निःशब्द-प्रिय भगवान

भगवान की निःशब्द-प्रियता की सच्चाई उनके अपने शिष्यों तक ही नहीं बल्कि अन्यान्य लोगों में भी फैलती चली गयी। हम इसके अनेक उदाहरण देखते हैं।



## ब्राह्मण सेल

ब्राह्मण सेल तीन सौ विद्यार्थियों के साथ अपने मित्र जटाधारी केणिय से मिलने गया। वहीं उसने भगवान बुद्ध के बारे में सुना। वह आतुर होकर भगवान से मिलने चला। तीन सौ विद्यार्थी भी साथ चले। समीप पहुँच कर उसने अपने शिष्यों को उपदेश दिया–

**अप्पसद्दा भोन्तो आगच्छन्तु पदे पदं निक्खिपन्ता।**

– आप लोग कदम-कदम चलते निःशब्द रह कर आयें।

**दुरासदा हि ते भगवन्तो सीहाव एकचरा।** (म० नि० २.३९८, सेलसुत्त)

– सिंहों की भांति अकेले विचरने वाले इन एकांतप्रिय भगवंतों से मिल पाना दुर्लभ होता है।

## चूळ सकुलुदायी

उन दिनों भगवान राजगृह के वेलुवन कलंदकनिवाप में विहार कर रहे थे। उन्हीं दिनों परिव्राजक सकुलुदायी राजगृह के ही मोरनिवाप परिव्राजकाराम में महती परिव्राजक परिषद के साथ निवास कर रहा था। भगवान प्रातःकाल राजगृह की ओर भिक्षाटन के लिए निकले। देखा, अभी समय है, तो थोड़ी देर परिव्राजक सकुलुदायी के परिव्राजकाराम में जाने का निश्चय किया। सकुलुदायी ने दूर से भगवान को आते देखा। सदा की भांति उस समय भी उसकी शिष्य-मंडली में खूब शोर- शराबा चल रहा था। सकुलुदायी ने उन्हें शांत रहने का आदेश देते हुए कहा–

**अप्पसद्दा भोन्तो होन्तु, मा भोन्तो सद्दमकत्थ।**

– आप लोग चुप हो जायँ, आप लोग आवाज न करें।

**अयं समणो गोतमो आगच्छति** – ये श्रमण गौतम आ रहे हैं।

**अप्पसद्दकामो खो पन सो आयस्मा अप्पसद्दस्स वण्णवादी।**

– वे निःशब्द प्रेमी है, वे निःशब्दता के प्रशंसक हैं।

**अप्पेव नाम अप्पसद्दं परिसं विदित्वा** – हो सकता है, परिषद को निःशब्द देख कर,

**उपसङ्कमितब्बं मञ्ञेय्य** – वे इस ओर आ जायँ।

**अथ खो ते परिब्बाजका तुण्ही अहेसुं** – तब वे परिव्राजक मौन हो गये।

(म० नि० २.२६९, चूळसकुलुदायिसुत्त)

## पोट्ठपाद

भगवान के मौन-प्रेमी स्वभाव को प्रकट करने वाली अनेक घटनाओं में एक घटना हम श्रावस्ती में देखते हैं।

उन दिनों भगवान श्रावस्ती के अनाथपिंडिक के जेतवन आराम में विहार कर रहे थे। एक दिन पूर्वाह्न के समय भिक्षाटन के लिए श्रावस्ती में प्रविष्ट हुए। उन्होंने सोचा श्रावस्ती में भिक्षाटन के लिए अभी जरा सबेरा है। क्यों न तब तक मैं आरामतंदुकाचीर होता हुआ चलूं। कोशल की राजमहिषी मल्लिका ने भिन्न-भिन्न मत-मतांतरों के संन्यासियों के परस्पर विवाद के लिए समयप्रवादक नाम का एक आराम बनवा दिया था, जिसमें यह एकशालिनी अर्थात एक शाल वाला तंदुकाचीर नाम का भवन था। उस समय उस तंदुकाचीर भवन में पोट्ठपाद नामक परिव्राजक अपने एक सौ तीस शिष्यों के साथ टिका हुआ था। ऐसी परिव्राजक-मंडली अपने वतरस स्वभाव के कारण–

**निसिन्नो होति उन्नादिनिया उच्चासद्दमहासद्दाय अनेकविहितं तिरच्छानकथं कथेन्तिया।**

– अनेक प्रकार की निरर्थक, निकम्मी बातें करती, शोर-गुल मचाते बैठी थी।

औरों की भांति पोट्ठपाद भी यह जानता था कि भगवान बुद्ध **अप्पसद्दकामो** अर्थात निःशब्दता-प्रेमी हैं और **अप्पसद्दस्स वण्णवादी** अर्थात निःशब्दता के प्रशंसक हैं। अतः उन्हें आते देख कर सकुलुदायी की भांति उसने भी अपने वातूनी साथियों को कहा–



**अप्पसद्दा भोन्तो होन्तु** – आप लोग निःशब्द हो जायँ, चुप हो जायँ।

**मा भोन्तो सद्दमकत्थ** – आप लोग एक शब्द न बोलें, चुप्पी साध लें।

परिषद को निःशब्द देख कर शायद श्रमण गौतम इस ओर चले आएं

**एवं वुत्ते ते परिब्बाजका तुण्ही अहेसुं** – यों कहने पर वे परिव्राजक चुप हो गये।

(दी० नि० १.४०८-४०९, पोट्ठपादसुत्त)

अतः हम देखते हैं कि भगवान के अनुयायी तो चुप रहते ही थे, परंतु जो उनके अनुयायी नहीं थे और चाहते थे कि भगवान कभी-कभार उनके बीच आया करें, वे भी उन निःशब्द-प्रेमी को आते देख कर स्वयं निःशब्द हो जाया करते थे।

## उदुंबरिक निग्रोध

अनेक लोग ऐसे थे, जो भगवान के अनुयायी नहीं थे। उनमें कुछ ऐसे भी थे, जो भगवान के विरोधी भी थे और निंदक भी। उनमें से एक था– निग्रोध परिव्राजक, जो तीन हजार परिव्राजकों की बृहद मंडली के साथ राजगृह के उदुंबरिक नामक परिव्राजकाराम में निवास करता था।

वह यह कह कर भगवान की निंदा किया करता था कि श्रमण गौतम दब्बू है, इसलिए एकांतप्रिय है। वह लोगों का सामना नहीं कर सकता, उनसे बातें नहीं कर सकता। इसलिए मुँह छिपाता है, दूर एकांत में भागा-भागा फिरता है। यों अकेले, एकांत शून्यागारों में रहते-रहते उसकी मति मारी गयी है।

यह सच था कि शोर-शराबे के हंगामे में मशगूल रहने वाले सांप्रदायिक परिव्राजकों से भगवान बुद्ध सर्वथा भिन्न प्रकृति के थे और उनकी तुलना में वे–

(दी० नि० ३.४९-५१,७५, उदुम्बरिकसुत्त)

**अरञ्ञवनपत्थानि पन्तानि सेनासनानि पटिसेवति।**

– अरण्य वन में एकांत निवास-स्थानों का सेवन करते हैं, जो–

**अप्पसद्दानि अप्पनिग्घोसानि** – निःशब्द हैं, निर्घोष हैं,

**विजनवातानि** – निर्जन हैं, और

**मनुस्सराहस्सेय्यकानि** – मनुष्यों से अलग, अकेले रहने योग्य हैं।

**पटिसल्लानसारुप्पानि** – ध्यान में सल्लीन हो सकने के लिए उपयुक्त हैं।

परंतु भगवान के इसी विशिष्ट गुण को निग्रोध जैसा परिव्राजक निंदा का विषय बनाता था और उसे मनमाने ढंग से तोड़- मोड़ कर लोगों के सामने प्रस्तुत करता था। अभिमान के कारण शेखी बघारते हुए वह कहता था –

**इङ्घ, गहपति** – सुनो हे गृहपति, गृहस्थ –

**समणो गोतमो इमं परिसं आगच्छेय्य** – यदि श्रमण गौतम इस सभा में आये,

**एकपञ्हेनेव नं संसादेय्याम** – तो हम उन्हें एक ही प्रश्न में ऊक-चूक कर देंगे, विचलित कर देंगे।

**तुच्छकुम्भीव नं मञ्ञे ओरोधेय्याम** – खाली घड़े की भांति जहां मन चाहे, वहां घुमा देंगे।

परिव्राजक निग्रोध ने जैसे ही ये हेकड़ी-भरे शब्द कहे, वैसे ही भगवान उस ओर आ निकले। भगवान के पीठ पीछे उनके विरोध में कोई कितना भी बोले, परंतु भगवान के महान व्यक्तित्व का कुछ ऐसा विशिष्ट प्रभाव था कि उन्हें देखते ही विरोधियों की सिट्टी-पिट्टी गुम हो जाया करती थी। और यही हुआ। कुछ क्षणों पहले भगवान के निःशब्दता-प्रेम की निंदा करने वाला निग्रोध शोर-गुल मचाने वाले अपने साथियों को चुप कराने लगा। क्योंकि भगवान मौन-प्रेमी थे, अतः भगवान के आते-आते सबने चुप्पी साध ली, अत्यंत विनम्रभाव से निग्रोध परिव्राजक स्वयं उनका स्वागत करता हुआ बोला –

**एतु खो, भन्ते, भगवा** – भंते, भगवान पधारें।

**स्वागतं, भन्ते, भगवतो** – भंते, भगवान का स्वागत है।



**चिरस्सं खो, भन्ते, भगवा इमं परियायमकासि यदिदं इधागमनाय।**

– भगवान ने चिरकाल के बाद यहां पधारने का अवकाश निकाला।

**निसीदतु, भन्ते, भगवा** – भंते, भगवान बैठें।

**इदमासनं पञ्ञत्तं** – यह आसन बिछा है।

और इतना ही नहीं, उन्हें बिछे आसन पर बिठा कर –

**निग्रोधोपि खो परिब्बाजको अञ्ञतरं नीचासनं गहेत्वा एकमन्तं निसीदि।**

– निग्रोध परिव्राजक भी एक नीचा आसन लेकर एक ओर बैठ गया।

वार्त्तालाप के दौरान परिव्राजक-मंडली अपनी आदत के अनुसार फिर बार-बार जोर-शोर से बोलने लगती थी। निग्रोध परिव्राजक को उन्हें बार-बार चुप कराना पड़ता था।

उस शांत वातावरण में हुई वार्त्तालाप के दौरान जब भगवान ने अपनी कही हुई सारी बात निग्रोध से मनवा ली, तब परिव्राजक-मंडली में फिर कोलाहल फूट पड़ा।

**ते परिब्बाजका उन्नादिनो उच्चासद्दमहासद्दा अहेसुं,**

– वे परिव्राजक चिल्ला-चिल्ला कर ऊंचे शब्द में कहने लगे,

**एत्थ मयं अनस्साम साचरियका।**

– इस मामले में हम सब अपने आचार्य सहित बेसहारा हो गये।

वे अपनी आदत से लाचार थे। हल्ला-गुल्ला करना, जोर-जोर से बोलना उनके स्वभाव का अंग हो गया था; जबकि दूसरी ओर भगवान नितांत शांतता से वार्त्तालाप कर रहे थे। शांति के साथ कही गयी भगवान की बातें बड़ी युक्तिसंगत थीं, तर्कसंगत थीं। परिव्राजक निग्रोध के पास कोई तर्क नहीं था। हल्ला-गुल्ला करने वाली उसकी परिषद ने भी अंततः हार मान ली। उसने स्वयं भी हार मान ली। ऐसी अवस्था में –

**निग्रोधो परिब्बाजको तुण्हीभूतो मङ्कुभूतो पत्तक्खन्धो अधोमुखो पज्झायन्तो अप्पटिभानो निसीदि।**

– निग्रोध परिव्राजक मौन हुआ, मूक हुआ, कंधे गिराये, सिर झुकाये परास्त और प्रतिभाहीन होकर बैठा रहा।

उसे अपने शेखी-भरे पूर्व-कथन पर भारी खेद था। पश्चाताप करते हुए उसने कहा –

**सच्चं, भन्ते, भासिता मे एसा वाचा यथाबालेन यथामूळ्हेन यथाअकुसलेन।**

(दी० नि० ३.५२-५३,५५-५६,७४-७६, उदुम्बरिकसुत्त)

– सचमुच भंते, मैंने ऐसे अकुशल वचन कहे, जैसे कोई मूढ़, अनजान बालक कह देता है।

तदनंतर परिव्राजक निग्रोध ने यह स्वीकार किया कि उसने अपने बड़े-बूढ़े आचार्य, प्राचार्य परिव्राजकों को यह कहते सुना है कि जो पूर्वकाल में सम्यक संबुद्ध हुए, वे भी निरर्थक वार्त्तालाप तथा हल्ला-गुल्ला करने वाले नहीं थे, बल्कि अरण्यों में, वनों में, मौन एकांतवास करने वाले थे, जैसे कि आप हैं। निःशब्दप्रियता सभी बुद्धों की विशेषता थी और यही भगवान गौतम बुद्ध की भी विशेषता थी, जो अनिंद्य ही नहीं, परम श्लाघ्य थी।

### भगवान के शिष्य भी मौन-प्रेमी

जैसे स्वयं भगवान, वैसे ही उनके शिष्य भी मौन-प्रेमी थे। उन्हें हल्ला-गुल्ला पसंद नहीं था। केवल भिक्षु ही नहीं, बल्कि भगवान के गृहस्थ शिष्य भी मौन-प्रेमी थे। जैसे भगवान की, वैसे ही उनके शिष्यों की निःशब्द- प्रियता भी सर्व-विदित थी। इससे संबंधित हम अनेक घटनाएं देखते हैं।

### संधान

गृहपति संधान राजगृह निवासी था। वह भगवान के प्रमुख गृहस्थ उपासकों में से एक था। स्वयं भगवान ने उसके प्रति प्रशंसात्मक शब्द कहे थे। भगवान ने कहा था कि गृहपति संधान में छः गुण हैं। वह बुद्ध के प्रति,



धर्म के प्रति, संघ के प्रति अचल श्रद्धा से युक्त है। वह आर्यशील से, आर्यज्ञान से और आर्यविमुक्ति से युक्त है। इन छः गुणों के कारण वह –

**तथागते निट्ठङ्गतो** – तथागत के प्रति निष्ठावान है।

**अमतद्दसो** – अमृतदर्शी है, और

**अमतं सच्छिकत्वा इरियति** – अमृत का साक्षात्कार कर विहार करता है।

(अ० नि० २.६.१२०-१३९, भल्लिकादिसुत्त)

वह आर्य है, अनार्य नहीं।

हम देखते हैं, बातूनी-मंडली के नायक, परिव्राजक निग्रोध ने जैसे भगवान बुद्ध को आते देख कर अपनी परिषद को मौन रहने का आदेश दिया, गृहपति संधान को आते देख कर भी वैसा ही आदेश दिया।

निग्रोध परिव्राजक ने संधान गृहपति को दूर से ही आते हुए देखा। उसे देख कर अपनी मंडली को मौन कराते हुए बोला –

**अप्पसद्दा भोन्तो होन्तु** – आप लोग मौन हो जायँ।

**मा भोन्तो सद्दमकत्थ** – आप लोग एक शब्द भी न बोलें।

वह देखो, श्रमण गौतम का श्रावक गृहपति संधान आ रहा है। श्रमण गौतम के जितने श्वेत-वस्त्रधारी, गृहस्थ श्रावक राजगृह में रहते हैं, यह संधान गृहपति उनमें से एक है।

**अप्पसद्दकामा खो पनेते आयस्मन्तो अप्पसद्दविनीता, अप्पसद्दस्स वण्णवादिनो;**

– ये आयुष्मान निःशब्दता-प्रेमी हैं, निःशब्द में अनुशासित हैं और निःशब्दता के प्रशंसक हैं।

**अप्पेव नाम अप्पसद्दं परिसं विदित्वा उपसङ्कमितब्बं मञ्ञेय्य।**

– हो सकता है कि परिषद को निःशब्द देख कर वह यहां आना ठीक समझें।

**एवं वुत्ते, ते परिब्बाजका तुण्ही अहेसुं** – ऐसा कहने पर वे परिव्राजक मौन हो गये।

(दी० नि० ३.५१, उदुम्बरिकसुत्त)

हम देखते हैं कि भगवान का तो कहना ही क्या, उनके शिष्यों तक की मौन-प्रियता की गहरी छाप लोगों के मन पर पड़ी थी।

## अनाथपिंडिक

श्रेष्ठि गृहपति अनाथपिंडिक श्रावस्ती में भगवान का प्रमुख गृहस्थ शिष्य था। उन दिनों भगवान श्रावस्ती में जेतवनाराम में विहार कर रहे थे। एक दिन अनाथपिंडिक मध्याह्न के समय भगवान के दर्शन के लिए घर से चल पड़ा। कुछ दूर जाने के बाद उसे ध्यान आया कि यह भगवान के दर्शन का उचित समय नहीं है। भगवान समाधिस्थ होंगे, अन्य साधक भिक्षु भी ध्यानस्थ होंगे। तब तक के लिये यह जो संप्रदायवादी अन्य परिव्राजक हैं, उनके आश्रम में होता चलूं। वह जिस आश्रम की ओर गया, वहां के परिव्राजक–

**सङ्गम्म समागम्म** – इकट्ठे होकर,

**उन्नादिनो** – ऊंची आवाज में,

**उच्चासद्दमहासद्दा** – हल्ला करते हुए, शोर मचाते हुए,

**अनेकविहितं तिरच्छानकथं कथेन्ता** – अनेक प्रकार की दुनियादारी की बातें करते हुए,

**निसिन्ना होन्ति** – बैठे थे।

उन्होंने अनाथपिंडिक को दूर से आते देखा। अनाथपिंडिक महाधनी था। महादानी था। अतः वे स्वभावतः चाहते थे कि अनाथपिंडिक उनके आश्रम में आये, परंतु वह यह भी जानते थे कि अनाथपिंडिक मौन-प्रिय श्रमण गौतम का परम श्रद्धालु शिष्य है। जैसे श्रमण गौतम, वैसे ही उनका यह शिष्य भी मौन-प्रेमी है। यह मौन रहने का अभ्यासी है, मौन- प्रशंसक है। यह ऐसी ही परिषद में जाता है, जहां लोग हल्ला-गुल्ला नहीं करते। हमारे यहां भी तभी आयेगा, जबकि हम खामोश हो जायँ। यह सोच कर –

**अथ खो ते अञ्ञतित्थिया परिब्बाजका तुण्ही अहेसुं।**

(अ० नि० ३.१०.९३, किंदिट्ठिकसुत्त)



– वे संप्रदायवादी अन्य परिव्राजक खामोश हो गये।

ऐसी अनेक घटनाओं में से हम एक घटना और देखते हैं।

## गृही वज्जिय माहित

चंपा निवासी गृहपति वज्जिय माहित भगवान बुद्ध का परम श्रद्धालु गृही शिष्य था। उन दिनों भगवान चंपा की गग्गर पुष्करिणी के किनारे विहार कर रहे थे। वह भी भगवान के दर्शन के लिए जाता हुआ रास्ते में सांप्रदायिक परिव्राजकों के आश्रम की ओर चल पड़ा। यहां भी परिव्राजक-मंडली उसी प्रकार हल्ला-गुल्ला करती हंगामे में मस्त थी। गृही वज्जिय माहित को आते देख कर यह मंडली भी शांत-मौन हो गयी, क्योंकि वे यह बखूबी जानते थे कि वज्जिय माहित शांति-प्रेमी भगवान बुद्ध का शांति-प्रेमी गृहस्थ शिष्य है। वे चाहते थे कि वज्जिय माहित उनके आश्रम में आये। साथ-साथ यह भी समझते थे कि खामोशी का माहौल होगा तो ही यह शांति-प्रेमी गृहस्थ यहां आयेगा। अतः वे सब मौन हो गये।

## बढ़ई पंचकंग

उपरोक्त घटनाओं में भगवान के कुछ एक धनीमानी गृहस्थ शिष्यों के उदाहरण हमारे सम्मुख आये हैं। परंतु भगवान की शिक्षा सभी शिष्यों के लिए एक समान थी। निःशब्दप्रियता सबके लिए समान रूप से ग्रहणीय थी। सभी निःशब्दता के अभ्यासी थे, सभी निःशब्दता के प्रशंसक थे, क्योंकि भगवान स्वयं निःशब्दता-प्रेमी थे, निःशब्दता- प्रशंसक थे। हम श्रावस्ती के बढ़ई पंचकंग को देखते हैं। वह राजकीय बढ़ई था, मकान बनाने वाला श्रमशील कामगर था, कारीगर था। बढ़ई के पेशे के लिए पांचों औजार सदा अपने साथ रखता था। इसी से उसका नाम पंचकंग पड़ा था।

विभिन्न मतवादियों के परस्पर विवाद के लिए राजमहिषी मल्लिका द्वारा बनाये गये समयप्रवादक आराम के एकशालक तंदुकाचीर में उन दिनों उग्गहमान परिव्राजक अपने सात सौ साथियों की बड़ी मंडली के साथ

ठहरा हुआ था। बढ़ई पंचकंग घूमते-घामते उस ओर जा निकला। उग्गहमान परिव्राजक ने बढ़ई पंचकंग को पहचान लिया। वह जानता था कि पंचकंग मौन-प्रेमी भगवान बुद्ध का मौन- प्रेमी शिष्य है। लगता है, अन्यान्य साधुओं के मठों में और उनकी जमातों में मौन का कोई विशेष महत्त्व था ही नहीं। वहां स्वभाव से ही बातचीत के शोर-शराबों का माहौल बना रहता था जो भगवान की शिक्षा से मेल नहीं खाता था। यहां भी वही हाल था। परिव्राजकों की मंडली खूब हल्ला-गुल्ला मचा रही थी। बढ़ई पंचकंग को आते देखकर परिव्राजकों के नेता उग्गहमान ने अपनी मंडली को मौन हो जाने का आदेश दिया–

**अथ खो ते परिब्बाजका तुण्ही अहेसुं।** (म० नि० २.२६०, समणमुण्डिकसुत्त)

– तब वे परिव्राजक चुप हो गये।

स्पष्ट है कि भिक्षु हों या गृहस्थ; गृहस्थों में भी अमीर हों या गरीब; भगवान के प्रायः सभी शिष्य उनकी मौन रहने की शिक्षा का पालन किया करते थे। जहां धर्म संबंधी चर्चा हो, वहां एक दूसरे से प्रश्नोत्तर अवश्य कर लेते थे। परंतु बातचीत भी विवाद के लिए नहीं, बल्कि धर्मसंबंधी जिज्ञासा-पूर्ति करने के लिए अथवा धर्मसंबंधी शंकाओं को दूर करने के लिए ही होती थी। भगवान की शिक्षा वाणी-विलास और श्रुति-विलास के लिए नहीं होती थी। मुख्य उद्देश्य तो सक्रिय रूप से विपश्यना साधना का अभ्यास करके मन को विकारों से विमुक्त कर लेना था। महज प्रेरणा प्राप्त करने के लिए या मार्गदर्शन प्राप्त करने के लिए धर्मचर्चा हुआ करती थी। इसलिए सभी शिष्यों के लिए ध्यान ही प्रमुख था। यही कारण था कि भगवान अपने शिष्यों को निरर्थक सांसारिक गपशप में लगने से रोकते थे। जहां सांसारिक बातें वर्जित थीं और धर्मसंबंधी बात पर भी विवाद करना वर्जित था, वहां स्वभावतः शांत वातावरण ही बना रहता था। शांत वातावरण ध्यान के लिए इतना उपयुक्त होता है कि कोई भी समझदार व्यक्ति उसे थोड़ा भी भंग नहीं होने देना चाहता। इसलिए भगवान के विहार ही नहीं, अन्य वनप्रदेशीय ध्यान-स्थल भी मौनजन्य शांति के लिए प्रसिद्ध थे।

इससे संबंधित हम एक और घटना देखते हैं–



## अजातशत्रु

विपुल राज्य संपदा प्राप्त हो जाने पर भी पितृ-घातक अजातशत्रु को मानसिक शांति नहीं महसूस हो रही थी। आश्विन पूर्णिमा की रात थी। आकाश और धरती पर धवल चांदनी छिटक रही थी। महाराज अजातशत्रु अपने मंत्रियों और दरबारियों सहित महल के ऊपर खुली छत पर बैठा था। चांदनी की मनोरम छटा देख कर वह कह उठा–

**रमणीया वत भो दोसिना रत्ति** – वाह, कैसी रमणीय चांदनी रात है!

**अभिरूपा वत भो दोसिना रत्ति** – वाह, कैसी सुंदर चांदनी रात है!

**दस्सनीया वत भो दोसिना रत्ति** – वाह, कैसी दर्शनीय चांदनी रात है!

**पासादिका वत भो दोसिना रत्ति** – वाह, कैसी प्रसन्नता प्रदायिनी चांदनी रात है!

**लक्खञ्ञा वत भो दोसिना रत्ति** – वाह, कैसी सुलक्षणी चांदनी रात है!

परंतु यही उसके लिए पर्याप्त नहीं थी। उसे तो वास्तविक मनो-शांति चाहिये थी। वास्तविक चित्त-प्रसन्नता चाहिये थी। यह मनोरम चांदनी रात उसके चित्त को वैसी शांति और प्रसन्नता नहीं प्रदान कर रही थी। वह जानता था कि वास्तविक शांति तो किसी संत की संगत में ही प्राप्त होगी। अतः उसने कहा–

**कं नु ख्वज्ज समणं वा ब्राह्मणं वा पयिरुपासेय्याम।**

– आज हम किस श्रमण या ब्राह्मण का सत्संग करें?

**यं नो पयिरुपासतो चित्तं पसीदेय्य** – जिसके सत्संग से चित्त को प्रसन्नता-भरी शांति मिल सके।

उसके मंत्रियों ने एक-एक करके उन दिनों के छः प्रसिद्ध धर्म-गुरुओं के नाम प्रस्तुत किये। वह उन सबसे मिल चुका था। उनसे मिल कर शांति प्राप्त नहीं हुई थी। अतः वह इन प्रस्तावों के प्रति अन्यमनस्क हो मौन रहा। अब राजदरबार में चुप्पी थी, कोई कुछ नहीं बोल रहा था। दरबार में

राजवैद्य जीवक भी बैठा था। वह भी मौन था। तब महाराज अजातशत्रु उसकी ओर अभिमुख होकर बोला–

**त्वं पन, सम्म जीवक, किं तुण्ही** – सौम्य जीवक, तुम क्यों चुप्पी साधे हो?

अजातशत्रु भली-भांति जानता था कि जीवक भगवान बुद्ध का अनन्य शिष्य है। हो सकता है अजातशत्रु का मन भगवान से सत्संग करने का हो, परंतु उसने देवदत्त की कुसंगति के कारण भगवान की शिक्षा के प्रतिकूल अपने धार्मिक पिता, राजा बिंबिसार की हत्या की थी। स्वयं भगवान का भी वध करने में देवदत्त के षड्यंत्र में सहयोग दिया था। अब वह किस मुँह से भगवान के पास जाय? उनके पास जाने के लिए अपनी ओर से पहल करने की शायद उसमें हिचक थी। बहुत संभव है कि इसीलिए उसने जीवक को उकसाया कि वह भगवान के साथ सत्संग करने का प्रस्ताव रखे और वह उसे स्वीकार कर ले। जीवक ने यही किया और कहा कि इस समय भगवान सम्यक संबुद्ध साढ़े बारह सौ भिक्षुओं के साथ मेरे आम के बगीचे में विहार कर रहे हैं।

**तं देवो भगवन्तं पयिरुपासतु** – आप महाराज उन भगवान का सत्संग करें।

**अप्पेव नाम देवस्स भगवन्तं पयिरुपासतो चित्तं पसीदेय्य।**

– हो सकता है उन भगवान के साथ सत्संग करने से आपके चित्त को प्रसन्नता-भरी शांति मिले।

महाराज अजातशत्रु तो मानो इस प्रस्ताव की प्रतीक्षा ही कर रहा था। वह चलने के लिये तुरंत तैयार हो गया। अपने परिवार को साथ लेकर सजे-धजे हाथियों पर सवार होकर, मशाल की रोशनी के सहारे, जीवक के मार्गनिर्देशन में महाराज अजातशत्रु राजगृह नगर के बाहर निकला और जीवक के आम्रवन की ओर चल पड़ा।



जब वह आम्रवन के समीप पहुँचा, तो उसे एकाएक घबराहट होने लगी। भय के मारे उसके रोंगटे खड़े हो गये। उसे लगा कि वह किसी जाल में फँस रहा है। वह जीवक की ओर उन्मुख होकर बोला–

**कच्चि मं, सम्म जीवक, न वञ्चेसि?**

– सौम्य जीवक, कहीं तुम मुझे छल तो नहीं रहे हो?

**कच्चि मं, सम्म जीवक, न पलम्भेसि?**

– सौम्य जीवक, कहीं तुम मुझे धोखा तो नहीं दे रहे हो?

**कच्चि मं, सम्म जीवक, न पच्चत्थिकानं देसि?**

– सौम्य जीवक, कहीं तुम मुझे दुश्मनों के हाथ में तो नहीं दे रहे हो?

अजातशत्रु का भय स्वाभाविक था। वह जीवक के आम्रवन के पास पहुँच गया था। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। कहीं कोई आवाज नहीं थी। जीवक ने कहा था कि भगवान यहां बारह सौ पचास भिक्षुओं के संघ के साथ ठहरे हैं। यह कैसे हो सकता है?

**कथं हि नाम ताव महतो भिक्खुसङ्घस्स अड्ढतेळसानं भिक्खुसतानं।**

– बारह सौ पचास भिक्षुओं का बृहद संघ हो और–

**नेव खिपितसद्दो भविस्सति** – न किसी के खँखारने, थूकने का शब्द हो,

**न उक्कासितसद्दो** – न खांसने का शब्द हो।

**न निग्घोसो** – न और किसी प्रकार की आवाज हो।

बारह सौ पचास लोगों का समूह छोटा नहीं होता। इतने लोग साथ बैठेंगे, तो बोलें बिना कैसे रहेंगे? इतने लोग साथ रह कर मौन रहें, यही विश्वसनीय बात नहीं लगती। फिर खांसें-खँखारें तक नहीं, यह भला कैसे संभव है? अजातशत्रु की यह शंका दूर करते हुए जीवक ने आश्वासन-भरे शब्दों में कहा–

**मा भायि, महाराज, मा भायि, महाराज।**

– महाराज, आप भयभीत न हों, आप भयभीत न हों।

**न तं, देव, वञ्चेमि** – राजन, न तो मैं आपको छल रहा हूं,

**न तं, देव, पलम्भामि** – न धोखा दे रहा हूं,

**न तं, देव, पच्चत्थिकानं देमि** – न मैं आपको दुश्मनों के हाथ दे रहा हूं।

**अभिक्कम, महाराज, अभिक्कम महाराज** – आगे चलें महाराज, आगे चलें महाराज!

**एते मण्डलमाळे दीपा झायन्ति** – गोलाकार मंडप में यह जो दीप जल रहे हैं,

वहीं भगवान अपने भिक्षुसंघ के साथ विराजमान हैं।

अजातशत्रु जीवक की बात मान कर सतर्क हो आगे बढ़ चला। आगे हाथियों के जाने का रास्ता नहीं था। अतः वह हाथी से उतर कर पैदल चलते हुए मंडप के द्वार तक पहुँच गया। परंतु यहां तक पहुँचने पर भी कहीं कोई आवाज नहीं सुन पा रहा था। अतः उसने जीवक से पूछा –

**कहं पन, सम्म जीवक, भगवा** – सौम्य जीवक, कहां है भगवान?

जीवक ने उत्तर दिया –

**एसो, महाराज, भगवा; एसो, महाराज, भगवा** – ये हैं महाराज, भगवान; ये हैं महाराज, भगवान।

**मज्झिमं थम्भं निस्साय, पुरत्थाभिमुखो निसिन्नो, पुरक्खतो भिक्खुसङ्घस्स।**

– वहां भगवान बैठे हैं। (गोलाकार मंडप) के मध्यवर्ती खंभे के सहारे, पूर्व दिशा की ओर मुख करके, भिक्षुसंघ को सामने किये हुए।

अजातशत्रु ने देखा, सचमुच खंभे के सहारे भगवान बैठे थे और उनके सामने बृहद भिक्षु संघ था। अजातशत्रु एकटक देखता ही रह गया। नीरव निशीथ, साढ़े बारह सौ मनुष्यों का जागृत बैठा हुआ समूह! मूक! मौन! प्रशांत! प्रश्रब्ध! मानो हिमालय की गहन उपत्यका का वीचिविहीन सरोवर हो!

वह भगवान के समीप जाकर एक ओर खड़ा हो गया और उसके मुख से सहसा ये शब्द फूट पड़े –



**इमिना मे उपसमेन उदयभद्दो कुमारो समन्नागतो होतु।**

– भंते, मेरा पुत्र राजकुमार उदयभद्र ऐसे ही शांति-संपन्न हो।

**येनेतरहि उपसमेन भिक्खुसङ्घो समन्नागतो।**

(दी० नि० १.१५०,१५७,१५९-१६१, सामञ्ञफलसुत्त)

– जैसा शांति-संपन्न यह भिक्षु संघ है।

ऐसी थी भगवान की शांति-प्रियता; ऐसी थी भगवान की शांति प्रदायिनी शिक्षा; ऐसा था भगवान का आदर्श, शांत भिक्षुसंघ।

## प्रशांत वातावरण

भगवान और उनके अरहंत शिष्य ऐसी शांत, एकांत वनभूमि में विहार करना पसंद करते थे, जहां संसारी लोगों का बहुत आवागमन न हो।

**रमणीयानि अरञ्ञानि, यत्थ न रमती जनो।**

– रमणीय हैं ऐसे वन-प्रदेश, जहां सामान्य लोग रमण नहीं करते।

**वीतरागा रमिस्सन्ति, न ते कामगवेसिनो।**

(थेरगा० ९९२, सारिपुत्तत्थेरगाथा; ध० प० ९९, अरहन्तवग्ग)

– वहां ऐसे वीतराग, अरहंत रमण करेंगे, जो काम-भोग की गवेषणा करने वाले नहीं हैं।

और यह भी सच है कि जहां कहीं भी भगवान विहार करते थे, अथवा उनके अरहंत शिष्य विहार करते थे, वहां नैसर्गिक तौर पर रमणीय शांति स्वतः विराजने लगती थी। इसे ही देख कर कहा गया –

**गामे वा यदि वारञ्ञे, निन्ने वा यदि वा थले।**

– गांव में या अरण्य में, नीचे स्थल पर अथवा ऊंचे स्थल पर,

**यत्थ अरहन्तो विहरन्ति, तं भूमिरामणेय्यकं।**

(थेरगा० ९९१, सारिपुत्तत्थेरगाथा; ध० प० ९८, अरहन्तवग्ग)

– जहां अरहंत विहार करते हैं, वह भूमि रमणीय ही है।

भगवान शांत, सुंदर, रमणीय स्थानों में विहार करते थे और भगवान जहां विहार करते थे, वे स्थान अधिक शांत, सुंदर और रमणीय हो जाया करते थे। इस तथ्य से संबंधित एक दृश्य हमारे सामने आता है–

## महाराज प्रसेनजित

महाराज प्रसेनजित शाक्य प्रदेश का भी अधिपति था। एक बार वह राजकीय दौरे पर शाक्य प्रदेश गया हुआ था। राजकीय काम से निवृत्त होकर वन-प्रदेश में सैर के लिए निकल पड़ा। नगर के बाहर वह एक अरण्य में पहुँचा। जितनी दूर रथ जाने का मार्ग था, उतनी दूर रथ पर सवार होकर गया, उसके आगे पैदल चल पड़ा। उस अरण्य में पैदल सैर करते हुए महाराज प्रसेनजित ने देखा–

**रुक्खमूलानि** – ये वृक्ष-मूल हैं, जो

**पासादिकानि, पसादनीयानि** – मनोरम हैं, मन प्रसन्न करने वाले हैं,

**अप्पसद्दानि, अप्पनिग्घोसानि** – निःशब्द हैं, निर्घोष हैं,

**विजनवातानि, मनुस्सराहस्सेय्यकानि** – निर्जन हैं, एकांत हैं, मनुष्यों द्वारा सेवित नहीं है।

**पटिसल्लानसारुप्पानि** – ध्यान में संलीन होने के अनुकूल हैं।

**दिस्वान भगवन्तंयेव आरब्भ सति उदपादि।**

(म० नि० २.३६४, धम्मचेतियसुत्त)

– यह दृश्य देख कर उसे भगवान बुद्ध याद आये।

ऐसे ही स्थानों पर उसने बहुत बार भगवान से सत्संग किया था। स्थान की शांत रमणीयता देख कर एकाएक उसके मन में यह विचार आया कि भगवान अवश्य यहीं कहीं होंगे। पूछने पर पता चला कि सचमुच भगवान समीप के ही किसी स्थान पर विहार कर रहे हैं। शांत, एकांत स्थान भगवान के विहार का पर्याय बन गया था। भगवान का विहार शांत, एकांत स्थान का पर्याय बन गया था।



## व्यस्त शास्ता

भगवान बुद्ध एकांत-प्रिय और मौन-प्रिय थे। इसका अर्थ यह नहीं कि वे शास्ता की जिम्मेदारियों से कतराते थे। पुराने शिष्यों और नये धर्म-याचकों से उनका पारस्परिक संबंध सतत बना रहता था। अपनी पैंतालीस वर्षों की शासनचर्या में उन्होंने जितने धर्मोपदेश दिये, उतने धर्मोपदेश मानवजाति के लंबे इतिहास में किसी भी एक धर्मगुरु ने नहीं दिये। वे जितने जिज्ञासुओं और मुमुक्षुओं से मिले, उतनों से कोई अन्य धर्मगुरु नहीं मिल पाया। उनका सारा जीवन, 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय' अनुकंपा से भरा हुआ था और वे सदा सदर्थ बांटने के काम में ही लगे रहते थे। भगवान के बारे में यह कितना सही कहा गया है।–

**असम्मोहधम्मो** – मोह, मूढ़ता से मुक्त,

**सत्तो लोके उप्पन्नो** – एक व्यक्ति संसार में उत्पन्न हुआ है,

**बहुजनहिताय बहुजनसुखाय** – बहुतों के हित के लिए, बहुतों के सुख के लिए,

**लोकानुकम्पाय** – संसार पर करुणा बरसाने के लिए,

**अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं** – देवताओं और मनुष्यों के भले के लिए, हित और सुख के लिए।

वह किस कदर लोकहित में लगे रहते थे, इसका वर्णन करते हुए उन्होंने स्वयं कहा–

**अञ्ञत्र असितपीतखायितसायिता** – खाने, पीने और शयन के समय को छोड़ कर,

**अञ्ञत्र उच्चारपस्सावकम्मा** – मल-मूत्र त्यागने के समय को छोड़ कर,

**अञ्ञत्र निद्दाकिलमथपटिविनोदना,**

– निद्रा और थकावट को दूर करने के समय को छोड़ कर,

**अपरियादिन्नायेवस्स, सारिपुत्त, तथागतस्स धम्मदेसना,**

– हे सारिपुत्त, तथागत की धर्मदेशना अखंड बनी रहेगी।

**अपरियादिन्नंयेवस्स तथागतस्स धम्मपदब्यञ्जनं** – तथागत की धर्मपद-व्यंजना अखंड बनी रहेगी।

**अपरियादिन्नंयेवस्स तथागतस्स पञ्हपटिभानं** – तथागत की प्रश्नोत्तरी अखंड बनी रहेगी। (म० नि० १.१६१, महासीहनादसुत्त)

और सचमुच वह अखंड ही बनी रही।

## विश्राम

इस प्रकार सतत सेवा में लगे रहने के लिए उन्हें समय-समय पर शरीर को विश्राम देना पड़ता था। यह विश्राम ध्यान द्वारा ही संपन्न होता था। भगवान को भी बार-बार ध्यान में संलीन होना पड़ता है, यह देख कर किसी के मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि–

**अज्जापि नून समणो गोतमो** – क्या आज भी श्रमण गौतम,

**अवीतरागो अवीतदोसो अवीतमोहो** – वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह नहीं है?

**तस्मा अरञ्ञवनपत्थानि पन्तानि सेनासनानि पटिसेवति।**

– तभी तो अरण्य में शून्य-वनस्थली का, एकांत निवास का सेवन करता है।

इस मिथ्या संशय का निराकरण करते हुए भगवान ने कहा कि वे एकांतवास का सेवन इन दो कारणों से करते हैं। एक तो–

**अत्तनो च दिट्ठधम्मसुखविहारं सम्पस्समानो,**

– अपने इस समय के (शारीरिक) सुख- विहार के लिए सम्यक विपश्यना करते हुए

और दूसरे–

**पच्छिमञ्च जनतं अनुकम्पमानो** – भावी जनता पर अनुकम्पा करते हुए। (म० नि० १.५५, भयभेरवसुत्त)



आखिर मानव-शरीर की अपनी सामर्थ्य, सीमाएं हैं। चाहे भगवान बुद्ध का ही शरीर क्यों न हो, उसे विश्राम की आवश्यकता होती ही थी। इसके अतिरिक्त भगवान दूरदर्शी थे, देखते थे कि आने वाली पीढ़ियों के विपश्यना-गुरु स्वयं तो विपश्यना करेंगे नहीं और दूसरों को विपश्यना करने का उपदेश देते रहेंगे। कहीं ऐसा न होने लगे। उन्हें विपश्यना-गुरु के आदर्श जीवन की परंपरा स्थापित करनी थी। नितांत वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह हो जाने पर भी भगवान स्वयं ध्यान करना नहीं छोड़ते थे। यह जान कर भावी आचार्य भी जब औरों को विपश्यना करने के लिए कहेंगे, तो स्वयं भी विपश्यना करते हुए ही उन्हें प्रोत्साहित कर पायेंगे। जो गुरु अपनी शिक्षा का स्वयं पालन नहीं करता, उसके शिष्यों से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वे उस शिक्षा का पालन करेंगे। भावी आचार्य कहीं ऐसी भूल न करने लगें, इसी बात को ध्यान में रखते हुए उन पर अनुकंपा करते हुए भगवान समय-समय पर स्वयं ध्यान-संलीन होते थे, न कि अपने राग-द्वेष या मोह दूर करने के लिए। उनके ये विकार तो सर्वथा विनष्ट हो ही चुके थे।

## एकांत ध्यान

लोक-संपर्कजन्य श्रम के कारण शारीरिक ऊर्जा का क्षीण होना स्वाभाविक था। रूपकाया की इस क्लांति को दूर करने के लिए भगवान के लिए विश्राम आवश्यक था। ध्यान-संलीनता से काया को जो विश्राम मिलता है, वह अतुलनीय है। अतः भगवान अपनी दैनिक दिनचर्या में ध्यान के लिए समय निश्चित रखते थे, ताकि धर्मकाया द्वारा जिस धर्म-ऊर्जा का प्रजनन हो, वह रूपकाया के लिए आवश्यक ऊर्जा की पूर्ति करे। सामान्य दैनिक जीवन में जो लोक-संपर्क होता था, उससे आयी थकान को दूर करने के लिए नित्य नियमित समय का ध्यान पर्याप्त था। परंतु जैसे-जैसे भगवान की प्रसिद्धि बढ़ती गयी, वैसे-वैसे लोक-संपर्क भी बढ़ता गया।

## प्रसिद्धि की कीमत

भगवान को अपनी बढ़ती हुई प्रसिद्धि की कीमत चुकानी पड़ती थी। उनके विश्रांति प्रदायक ध्यान में वाधा आती रहती थी। उनका लोगों से मिलने का समय निश्चित था; इसी प्रकार देव-ब्रह्माओं से मिलने का भी। जो लोग भगवान की दिनचर्या से परिचित थे, वे तो भगवान के ध्यान में बाधक नहीं बनते थे। हम देखते हैं कि चाहे श्रावस्ती का अनाथपिंडिक हो, या बढ़ई पंचकंग हो, चाहे चंपा का वज्जिय माहित हो, या राजगृह का गृहपति संधान हो, जो भी भगवान के निकटवर्ती शिष्य थे, वे खूब जानते थे कि जो समय भगवान के ध्यान का है, उसमें विघ्न पैदा न करें। यदि घर से चल पड़े हैं, तो उतना समय भले किसी परिव्राजकाराम में विता दें, जहां लोग ध्यान तो करते नहीं, वैठे गपशप लगाते रहते थे। परंतु जो अनजान थे, वे असमय आकर भगवान के एकांत ध्यान में वाधा पैदा करते थे। देवताओं से मिलने के लिए भगवान ने रात्रि का कुछ समय निर्धारित कर रखा था, परंतु देवराज इंद्र दिन में उनके ध्यान के समय उनसे मिलने चला आता था।

इसी प्रकार कुछ एक अन्य लोग भी भगवान के एकांत ध्यान में वाधक वनते थे। विशेपकर ऐसी अवस्था में जव कि आनंद जैसा उनका उपस्थाक (व्यक्तिगत सहायक) उपस्थित न हो। उदाहरणस्वरूप, हम देखते हैं कि अंवष्ठ माणवक भगवान से ऐसे समय मिलने आया, जवकि वे अपनी एकांत कुटी में थे। कोई उपस्थाक उपस्थित नहीं था, वाहर खुली जगह भिक्षु टहल रहे थे। अंवष्ठ माणवक ने उन भिक्षुओं से कहा कि वह भगवान से मिलना चाहता है। भिक्षुओं ने सोचा कि यह प्रख्यात ब्राह्मण पीप्करसाति का पट्ट शिष्य है, इसे रोकना उचित नहीं। इसके साथ वातचीत करना भगवान के लिए वोझ नहीं होगा। यह सोच उन्होंने अंवष्ठ से कहा–

**एसो, अम्बट्ठ, विहारो संवुतद्वारो** – यह भगवान का विहार स्थान है, जिसके दरवाजे वंद हैं।

**तेन अप्पसद्दो उपसङ्कमित्वा अतरमानो** – वहां धीरे से चुपचाप जाकर,



**आळिन्दं पविसित्वा** – वरामदे में प्रवेश करके,

**उक्कासित्वा** – खांस कर,

**अग्गळं आकोटेहि** – अर्गला को खटखटाओ।

**विवरिस्सति ते भगवा द्वारं** – भगवान तुम्हारे लिये दरवाजा खोल देंगे।

(दी० नि० १.२६०, अम्बट्ठसुत्त)

इस प्रकार समय-असमय भगवान की कुटिया का कुंडा खटखटाने वाले आते ही रहते थे। उनमें से वहुत से मुमुक्षु होते थे, जिन्हें धर्म का उपदेश देते हुए भगवान को थकान नहीं होती थी। परंतु कुछ एक ऐसे भी थे जो वाद-विवाद करने चले आते थे। वे भगवान का समय नष्ट करते थे।

### भीड़ की भीड़

भगवान–

**सम्बुद्धं इति विस्सुतं** – संवुद्ध के रूप में विश्रुत हो चुके थे।

(म० नि० २.४५५, वासेट्ठसुत्त)

उनकी यह कीर्त्ति लोगों में खूब फैल चुकी थी।

**तं खो पन भवन्तं गोतमं एवं कल्याणो कित्तिसद्दो अब्भुग्गतो।**

– उन भगवान गौतम के ऐसे मंगलमय कीर्त्ति-शब्द फैल गये हैं,

– कि वे भगवान अरहंत हैं, सम्यक संवुद्ध हैं, विद्याचरणसंपन्न हैं, सुगत हैं, लोकविदू हैं, अनुत्तर पुरुप- दम्य-सारथि हैं, देव मनुष्यों के शास्ता हैं, वुद्ध हैं, भगवान हैं।

**सयं अभिञ्ञा सच्छिकत्वा पवेदेति।**

– उन्होंने स्वयं जो अनुभव किया है, उसी का उपदेश देते हैं। किसी शास्त्रलिखित या परंपरागत मान्यता का उपदेश नहीं देते।

**सो धम्मं देसेति** – वे जो धर्म सिखाते हैं, वह–

**आदिकल्याणं मज्झेकल्याणं परियोसानकल्याणं,**

– आरंभ में कल्याणकारी, मध्य में कल्याणकारी और अंत में कल्याणकारी है।

**सात्थं सब्यञ्जनं** – उसे अर्थ और व्यंजन सहित सिखाते हैं।

अर्थात केवल शब्दों के स्तर पर ही नहीं, बल्कि उनके अर्थों को स्पष्ट करते हुए सिखाते हैं।

**केवलपरिपुण्णं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेति।**

– परम परिपूर्ण और परिशुद्ध ब्रह्माचरण का प्रकाशन करते हैं।

उनके बारे में यह बात भी प्रसिद्धि पा चुकी थी कि–

**साधु खो पन तथारूपानं अरहतं दस्सनं होति।**

– ऐसे अरहंतों का दर्शन अच्छा होता है।

इसलिए वह जहां जाते वहीं–

**सङ्घसङ्घी गणीभूता** – समूह के समूह लोग इकट्ठे हो कर,

(म० नि० २.४२२-४२३, चङ्कीसुत्त)

उनके दर्शन के लिए निकल पड़ते थे। लोगों की भीड़-भाड़ उनके साथ लगी ही रहती थी।

**लोग धर्मचर्चा करने आयें, धर्म की व्याख्या सुनने आयें, धर्मसंबंधी प्रश्न पूछने आयें, तो भगवान उनको उत्तर देकर, उन्हें धर्म समझा कर प्रसन्नता ही अनुभव करते थे। परंतु हो-हल्ला करते हुए लोगों के हजूम का हंगामा उन्हें प्रिय नहीं लगता था और न ही उनके ध्यानप्रेमी शिष्यों को यह अच्छा लगता था। इस संदर्भ में हम एक घटना देखते हैं।**

### वैशाली

**उन दिनों भगवान वैशाली के महावन की कूटागारशाला में अपने शिष्यों के साथ विहार कर रहे थे।**

**तेन खो पन समयेन** – उस समय



**सम्बहुला अभिञ्ञाता अभिञ्ञाता लिच्छवी** – अनेक मशहूर-मशहूर लिच्छवी

**भद्रेहि भद्रेहि यानेहि परपुराय,**

– एक दूसरे से आगे निकलने की होड़ में सुंदर-सुंदर रथों पर सवार होकर,

**उच्चासद्दा महासद्दा** – शोरगुल मचाते हुए,

**महावनं अज्झोगाहन्ति भगवन्तं दस्सनाय।**

– भगवान के दर्शन के लिए सारे महावन का अवगाहन कर रहे थे।

लिच्छवियों की यह भीड़ हो-हल्ला करते हुए महावन की शांति भंग कर रही थी। यह देख कर भगवान के ध्यानी शिष्यों के मन में यह विचार उठा–

**'सद्दकण्टका खो पन झाना' वुत्ता भगवता।**

– भगवान ने शोर-गुल को ध्यान के लिए कंटक कहा है। इसीलिए–

**यंनून मयं येन गोसिङ्गसालवनदायो तेनुपसङ्कमेय्याम।**

– हम जहां गोसिंग शालवन है, वहां चलें।

**तत्थ मयं अप्पसद्दा अप्पाकिण्णा फासुं विहरेय्याम।**

(अ० नि० ३.१०.७२, कण्टकसुत्त)

– वहां हम बिना शोर-गुल के आराम से विहार कर सकेंगे।

और वे उस कोलाहल से दूर शांत, एकांत गोसिंग शालवन में चले गये।

इसी संदर्भ में हम एक घटना और देखते हैं।

### इच्छानंगल

एक समय भगवान भिक्षुसंघ के साथ धर्मचारिका करते हुए कोशल देश के इच्छानंगल नामक ब्राह्मणग्राम में पहुँचे। तब तक अनेक प्रसिद्ध-प्रसिद्ध ब्राह्मणों ने यह जांच कर देख लिया था कि भगवान बत्तीस

महापुरुषलक्षण धारण किये हुए हैं और यह भी कि वे अरहंत सम्यक संबुद्ध हैं। इस कारण भी और भगवान के उपदेशों की स्वच्छता के कारण भी उनकी प्रसिद्धि खूब फैल चुकी थी।

भगवान इच्छानंगल के वनखंड में टिके हुए थे। गांव के ब्राह्मण समूहबद्ध हो-हो कर भगवान के दर्शन के लिए आते थे। एक दिन सुबह-सुबह ब्राह्मणों का एक बड़ा झुंड भगवान को भेंट चढ़ाने के लिए बहुत-सी खाद्य, भोज्य-सामग्री साथ लेकर जहां भगवान ठहरे थे, वहां पहुँचा। यह अनुशासन विहीन जनता की भीड़ थी। बंद दरवाजे वाले प्रकोष्ठ के सामने वे बहुत आवाज कर रहे थे।

नहीं जानते कि ये आवाजें सैकड़ों अनुशासन विहीन लोगों के पारस्परिक बातचीत की ही थीं, अथवा उन दिनों भी जय-जयकार के नारे लगाने का प्रचलन था और ये आवाजें ऐसे या अन्य किसी प्रकार के नारों की थीं। बहरहाल, आवाजें थी। हजूम का हंगामा था, भारी शोर-शराबा था, जो भगवान को बिल्कुल पसंद नहीं था।

उन दिनों भगवान के उपस्थाक आनंद नहीं, नागित थे। भगवान के पचपन वर्ष की आयु होने पर आनंद ने यह उत्तरदायित्व संभाला था और पच्चीस वर्षों तक भगवान के महापरिनिर्वाण तक उसे कुशलतापूर्वक निभाया था। इसके पूर्व अनेक शिष्यों को बारी-बारी से यह काम सौंपा गया और सभी का काम असंतोषजनक साबित हुआ। भगवान की पैंतीस से पचपन वर्ष की अवस्था के बीच के किसी समय नागित उनके उपस्थाक रहे होंगे। इससे यह सिद्ध होता है कि बहुत कम समय में ही भगवान की इतनी प्रसिद्धि फैल चुकी थी कि वे जहां जाते, लोगों की भीड़ उनके दर्शन के लिए उमड़ पड़ती थी।

जो भी हो, यह कोलाहल सुन कर भगवान ने अपने उपस्थाक नागित से पूछा ये कौन हैं, जो इतना शोर मचा रहे हैं?

नागित ने कहा – भंते, ये इच्छानंगल ग्राम के ब्राह्मण गृहपति हैं, जो आपके और भिक्षु संघ के लिये बहुत-सी खाद्य और भोज्य-सामग्री की भेंट लेकर आये हैं और बंद प्रकोष्ठ के बाहर खड़े हैं।



स्पष्ट है कि ये इतने सारे लोग भगवान के यश, प्रसिद्धि, के कारण ही इकट्ठे हुए थे और कोलाहल कर रहे थे जो भगवान को बिल्कुल नापसंद था।

कोई मुमुक्षु भगवान के पास धर्म सीखने के लिए आता, असमय भी आता, तो भगवान अपनी सुख-सुविधा का ख्याल न करके भी उसे धर्म समझाते थे, क्योंकि इस प्रकार धर्म सुन, समझ कर उसे धारण करने से उस व्यक्ति का कल्याण होता था, भगवान का श्रम सार्थक होता था, सफल होता था। परंतु जो लोग भगवान को मान-सम्मान देने आते थे, भेंट-चढ़ावा देने आते थे और शांत रह कर न धर्म सुनते थे, न समझते थे, न धारण करते थे, ऐसे लोग इन सांसारिक औपचारिकताओं में अपना भी समय नष्ट करते थे और भगवान का भी अमूल्य समय नष्ट करते थे। मनुष्य का जीवन कितना छोटा है। इसका एक-एक क्षण कितना अनमोल है। धर्म सीखने-सिखाने को छोड़ अन्य निरर्थक बात में समय गँवाना और भगवान को कष्ट पहुँचाना कितना अनुचित था। आनंद जैसे समझदार उपस्थाक इस बात का बहुत ध्यान रखते थे। इसका एक उदाहरण हमारे सामने है –

भगवान की शरीर-च्युति का समय समीप आ रहा है। भगवान महापरिनिर्वाण की शय्या पर लेटे हैं। परिव्राजक सुभद्र उनसे मिलने के लिए आतुर है। आनंद उसे रोकते हैं। वह हठ करता है। आनंद उसे समझाते हैं –

**अलं, आवुसो सुभद्द** – बस करो, आयुष्मान सुभद्र।

**मा तथागतं विहेठेसि** – तथागत को कष्ट मत दो।

**किलन्तो भगवा** – भगवान थके हैं।

आजीवन लोक-सेवा में लगे रहने वाले भगवान बुद्ध को आयुष्मान सुभद्र को रोका जाना उचित नहीं लगा। धर्म सिखाने के लिए सुभद्र उन्हें उचित पात्र लगा। आनंद ने उसे परखने में भूल की। भगवान ने आनंद से कहा –

आनंद, सुभद्र को मत रोको। उसे आने दो।

**यं किञ्चि मं सुभद्दो पुच्छिस्सति** – सुभद्र मुझसे जो कुछ पूछेगा,

**सब्बं तं अञ्ञापेक्खोव पुच्छिस्सति** – वह सब परम ज्ञान की अपेक्षा से ही पूछेगा।

**नो विहेसापेक्खो** – मुझे कष्ट देने की अपेक्षा से नहीं पूछेगा।

(दी० नि० २.२१२-२१३, महापरिनिब्बानसुत्त)

धर्म सिखाने में भगवान को जरा भी कष्ट नहीं होता था, जरा भी क्लांति नहीं होती थी। अपने शरीर त्यागने के समय तक वह एक मुमुक्षु व्यक्ति को अत्यंत करुणापूर्वक धर्म सिखाते रहे। परंतु जय-जयकार करने वाली अथवा धूम-धाम के साथ भेंट-उपहार लाने वाली ऐसी भीड़ भगवान को सर्वथा नापसंद थी। लेकिन न चाहते हुए भी भगवान की प्रसिद्धि के कारण ऐसा होता ही रहता था, यद्यपि भगवान उससे दूर रहना चाहते थे। इसीलिए धर्म-प्रकोष्ठ के बाहर की भीड़ देख कर भगवान ने आयुष्मान नागित से कहा–

**माहं, नागित, यसेन समागमं** – नागित, मुझे यश, ऐश्वर्य से दूर रहने दो।

**मा च मया यसो** – और यश, ऐश्वर्य को मुझसे दूर रखो।

सामान्य सांसारिक व्यक्ति जिसने कभी ध्यान का सुख भोगा नहीं, उसके लिए यश, प्रसिद्धि का अपना एक सुख होता है; लाभ- सत्कार का अपना एक सुख होता है और इसलिए वह उनका स्वागत करता है। परंतु जिन्हें भीतर का शांतिमय सुख सहज उपलब्ध हो, उनके लिए यह सांसारिक सुख घृणित होते हैं, अवांछित होते हैं, त्याज्य होते हैं। इसीलिए भगवान ने कहा–

**हे नागित, जिस किसी व्यक्ति को–**

**नेक्खम्मसुखस्स** – निष्क्रमण सुख का,

**पविवेकसुखस्स** – एकांत सुख का,

**उपसमसुखस्स** – शांत उपशमन सुख का,

**सम्बोधसुखस्स... अकसिरलाभी** – संबोधि के सुख का,



सहज सरलता से लाभ न हुआ हो, प्रचुरता से लाभ न हुआ हो,

**सो तं** – वही इस

**मीळ्हसुखं** – मैले, गंदे सुख का,

**मिद्धसुखं** – प्रमाद सुख का,

**लाभसक्कारसिलोकसुखं** – लाभ-सत्कार और प्रशंसा-प्रशस्ति-सुख का,

**सादियेय्य** – स्वागत करे, इसका आस्वादन ले।

भगवान और भगवान के परिपक्व साधक भिक्षुओं के लिए इस प्रकार का **लाभसक्कारसिलोकसुखं मीळ्हसुखं** ही था, **मिद्धसुखं** ही था। पर नागित तो अभी परिपक्व भिक्षु हुआ नहीं था। वह भगवान की दिन दूनी, रात-चौगुनी फैलती हुई प्रसिद्धि-प्रशस्ति से, मान-सम्मान से, भेंट- उपहार से बहुत संतुष्ट था। साथ-साथ वह यह भी समझता था कि भगवान को ये सब असह्य हैं, अस्वीकार्य हैं। अतः उसने अपनी ओर से भगवान को सलाह दी, परामर्श दिया–

**अधिवासेतु दानि, भन्ते, भगवा** – भंते, भगवान इसे सहन करें, स्वीकार करें।

**अधिवासेतु सुगतो** – सुगत, इसे सहन करें, स्वीकार करें।

**अधिवासनकालो दानि, भन्ते, भगवतो** – भंते, यह भगवान के सहन करने का समय है, स्वीकार करें।

उसने अपनी ओर से तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा कि जब भगवान की प्रसिद्धि इस कदर फैल चुकी है कि–

**येन येनेव दानि, भगवा गमिस्सति,**

– भंते, भगवान आप जिस-जिस ओर भी गमन करेंगे, उस-उस ओर के–

**तन्निन्नाव गमिस्सन्ति ब्राह्मणगहपतिका नेगमा चेव जानपदा च।**

– ब्राह्मण, गृहपति, निगम के लोग, जनपद के लोग आपकी ओर झुक जायेंगे (आकर्षित होंगे) जैसे कि–

**थुल्लफुसितके देवे वस्सन्ते** – मूसलाधार बरसात होने पर,

**यथानिन्नं** – जिस ओर ढलान हो,

**उदकानि पवत्तन्ति** – पानी उस ओर प्रवाहित हो जाता है।

नागित भगवान को यह समझाना चाहता था कि प्रसिद्धि होगी, तो लोगों की भीड़ पीछे लग ही जायेगी। न चाहते हुए भी उसे सहन-स्वीकार करना ही पड़ेगा। प्रसिद्धि की यह कीमत चुकानी ही होगी।

और प्रसिद्धि भी होगी ही। मिथ्या प्रचार द्वारा किसी दु:शील, दुष्प्रज्ञ गुरु की भी प्रसिद्धि हो सकती है। परंतु वह टिकती नहीं, क्योंकि आधार गलत है। जबकि भगवान की प्रसिद्धि का आधार सही था, उनका शील संपुष्ट था, प्रज्ञा प्रखर थी।

**तथा हि, भन्ते, भगवतो सीलपञ्ञाणं।** (अ० नि० २.५.३०, नागितसुत्त)

– भंते, भगवान आपका शील और प्रज्ञा ऐसी ही है।

उनकी प्रसिद्धि इसी कारण दिन-पर-दिन बढ़ती गयी। चाहे-अनचाहे लोगों की भीड़ उनकी ओर खिंचती गयी। लोगों को उनका सान्निध्य प्रिय लगता था। अत: भगवान जब पैदल यात्रा पर निकलते थे, तब ऐसे कई सान्निध्य-लोभी उनके साथ हो लेते थे। भगवान ऐसे निकम्मे लोगों से छुटकारा चाहते थे। वे अकेले यात्रा करना चाहते थे।

**यस्माहं, नागित, समये अद्धानमग्गप्पटिपन्नो** – नागित, जिस समय मैं रास्ते पर चलता हूं, उस समय–

**न कञ्चि पस्सामि पुरतो वा पच्छतो वा** – आगे या पीछे किसी को नहीं देखता।

**फासु मे, नागित, तस्मिं समये होति** – उस समय, हे नागित, मुझे अच्छा लगता है। (अ० नि० ३.८.८६, यससुत्त)

**जैसा भगवान का एकांतप्रिय स्वभाव था, वैसा ही उनके गंभीर शिष्य-भिक्षुओं का भी था। ऐसे ही स्वभाव वाला एक भिक्षु भगवान की ही वाणी में कहता है–**



**पुरतो पच्छतो वापि** – आगे अथवा पीछे

**अपरो चे न विज्जति** – कोई अन्य न विद्यमान हो, तव

**अतीव फासु भवति, एकरस वसतो वने** – वन में अकेला रहते हुए बहुत सुख होता है। (थेरगा० ५३७, एकविहारियत्थेरगाथा)

## कलह-विवाद

जैसे भगवान को कोलाहल नापसंद था, वैसे ही भिक्षुओं का पारस्परिक कलह-विवाद भी नापसंद था। कभी-कभी ऐसे अवसर भी आते थे, जब भगवान कुछ एक अपरिपक्व भिक्षुओं के विग्रह-विवाद से तंग आ जाते थे। भगवान जब उन्हें समझाते थे कि–

**अलं भिक्खवे** – बस करो, भिक्षुओ,

**मा भण्डनं मा कलहं मा विग्गहं मा विवादं।**

– झगड़ा मत करो, कलह मत करो, विग्रह मत करो, विवाद मत करो।

हम देखते हैं कि भगवान के यों कहने पर कोई एक अधर्मवादी झगड़ालू भिक्षु इस प्रकार उत्तर देता है–

**आगमेतु, भन्ते, भगवा धम्मस्सामी** – भंते, भगवान, धर्मस्वामी, आप रहने दें।

**अप्पोस्सुक्को, भन्ते** – आप परवाह मत करें, भंते।

**भगवा दिट्ठधम्मसुखविहारमनुयुत्तो विहरतु** – भगवान सांदृष्टिक, निर्वाणिक सुखविहार में निरत रहें।

**मयमेतेन भण्डनेन कलहेन विग्गहेन विवादेन पञ्ञायिस्साम।**

(महाव० ४५७, कोसम्बकविवादकथा)

– हम इस झगड़े, कलह, विग्रह, विवाद को स्वयं ही समझ लेंगे।

अर्थात उन्हें भगवान के बीच-बचाव की और शांति रखने के उपदेश की भी आवश्यकता नहीं है। भगवान ऐसे झगड़ालू लोगों का क्या करते?

जिनके सुधरने की कोई गुंजाइश नहीं, उनका तो त्याग करना ही उचित था।

भगवान को ऐसे ही भिक्षु प्रिय थे जो प्यार से संगठित हो रहते थे। भगवान ने कहा कि जिस दिशा में ऐसे भिक्षु रहते हैं, जो–

**समग्गा सम्मोदमाना** – एकता के भावों से, मुदित चित्त से,

**अविवदमाना** – बिना विवाद-विग्रह के,

**खीरोदकीभूता** – दूध-पानी सदृश मिल- जुल कर एक बने हुए,

**अञ्ञमञ्ञं पियचक्खूहि सम्पस्सन्ता विहरन्ति,**

– परस्पर प्यार की दृष्टि से देखते हुए विहार करते हैं,

**गन्तुम्पि मे एसा, भिक्खवे, दिसा फासु होति।**

– उस दिशा की ओर जाने में भी मुझे सुख मिलता है।

**पगेव मनसि कातुं** – उस ओर ध्यान देने की तो बात ही क्या?

अर्थात उनके पास जाने में तो खुशी होती ही है, उनकी ओर ध्यान ले जाने में भी खुशी होती है।

इसके विपरीत जिस दिशा में ऐसे भिक्षु रहते हैं, जो–

**भण्डनजाता** – झगड़ालू हैं,

**कलहजाता** – कलहकारी हैं,

**विवादापन्ना** – विवाद में पड़े हैं,

**अञ्ञमञ्ञं मुखसत्तीहि वितुदन्ता विहरन्ति,**

– परस्पर एक दूसरे को मुख के भाले से बींधते हुए विहार करते हैं,

**मनसि कातुम्पि मे एसा, भिक्खवे, दिसा न फासु होति।**

– भिक्षुओ, उस दिशा की ओर मन ले जाने में भी मुझे सुख नहीं मिलता,

**पगेव गन्तुं** – उस दिशा की ओर जाने की तो बात ही क्या!

(अ० नि० १.३.१२५, भण्डनसुत्त)



इसीलिए भगवान ने कहा–

**एकस्स चरितं सेय्यो, नत्थि बाले सहायता।** (ध० प० ३३०, नागवग्ग)

– अकेले विचरण करना श्रेयस है, मूर्खों की मित्रता उचित नहीं।

## अशांत वातावरण

उस समय भगवान कोशांबी के घोषिताराम में विहार कर रहे थे। एक ओर कलहकारी भिक्षु और दूसरी ओर बातूनी लोगों का भीड़-भड़क्का। घोषिताराम विहार का वातावरण एकदम अशांत हो उठा था। झगड़ालू भिक्षु ऐसे जो भगवान का कोई उपदेश सुनने को तैयार नहीं थे, दूसरी ओर भगवान की प्रसिद्धि इस कदर बढ़ी हुई कि उसके कारण उनके इर्द-गिर्द ऐसे निकम्मे लोगों का जमघट होने लगा था जो धर्म तो कम सुनना चाहते थे, परंतु जो केवल भगवान के दर्शन के लोभी थे, क्योंकि यह बात बहुत प्रसिद्धि पा चुकी थी कि–

**साधु खो पन तथारूपानं अरहतं दस्सनं होति।**

(दी० नि० २.४०७, पायासिसुत्त)

– ऐसे अरहंतों का दर्शन अच्छा होता है।

दर्शन के ऐसे लोभी भगवान से धर्म तो सीखना नहीं चाहते थे, परंतु भगवान को खुश करने के लिए उनके लिए भेंट-उपहार लेकर आते थे और उनकी प्रशस्ति में नाना प्रकार के नारे लगाते थे। ऐसे लोगों ने वातावरण में अशांति पैदा कर दी थी।

**तेन खो पन समयेन भगवा आकिण्णो विहरति** – उस समय भगवान घिरे रहते थे।

**भिक्खूहि भिक्खुनीहि** – भिक्षुओं से, भिक्षुणियों से,

**उपासकेहि उपासिकाहि** – उपासकों से और उपासिकाओं से,

**राजूहि राजमहामत्तेहि** – राजाओं से और राजमंत्रियों से,

**तित्थियेहि तित्थियसावकेहि** – सांप्रदायिक नेताओं से और उनके शिष्यों से,

**आकिण्णो दुक्खं न फासु विहरति।**

– इस भीड़-भाड़ से घिरे रहने के कारण उन्हें चैन नहीं मिलती थी। न ये झगड़ालू भिक्षु भगवान की कोई बात सुनने वाले थे और न ही दर्शन के लोभी हल्ला करने वालों की यह भीड़। अपने चैन के लिए भी और इन नासमझ लोगों को सबक सिखाने के लिए भी भगवान ने यह निर्णय किया –

**यंनूनाहं एको गणस्मा वूपकट्ठो विहरेय्यं।**

– क्यों न मैं इस भीड़-भाड़ को छोड़ कर कहीं अकेले विहार करूं। और उन्होंने यही किया। सुबह का आहार ले लेने के पश्चात –

**सामं सेनासनं संसामेत्वा** – स्वयं अपना आसन उठा कर,

**पत्तचीवरमादाय** – पात्र-चीवर लेकर,

**अनामन्तेत्वा उपट्ठाकं** – अपने उपस्थाक (व्यक्तिगत सहायक) को बिना पूछे, बिना साथ लिये,

**अनपलोकेत्वा भिक्खुसङ्घं** – भिक्षुसंघ से बिना मिले,

**एको अदुतियो** – अकेले, बिना किसी दूसरे को साथ लिए,

**येन पालिलेय्यकं... तदवसरि** – पालिलेय्यक जा पहुँचे।

पालिलेय्यक में एक आरक्षित वन था। राज्य की ओर से आरक्षित होने के कारण न वहां शिकारी शिकार के लिए जाते थे और न ही लकड़हारे लकड़ी काटने के लिए। उस निर्जन वन में भद्रशाल वृक्ष के नीचे भगवान विहार करने लगे। उस एकांत में अकेले ध्यान करते हुए भगवान ने कुछ दिन सुख से बिताये। उस समय उनके मन में यह विचार उठा –

पहले मेरे पास भीड़ लगी रहती थी, जरा भी चैन नहीं मिलता था और अब –



**अनाकिण्णो सुखं फासु विहरामि** – बिना भीड़ के मैं सुख-चैन से रहता हूं।

(उदा० ३५, नागसुत्त)

इस बार तो भगवान कोशांबी के झगड़ालू भिक्षुओं और निरर्थक मिलने वालों की भीड़-भाड़ के कारण एकांतवासी हुए थे। परंतु कभी-कभी संत-शिष्यों की सेवा- संगति उपलब्ध होते हुए भी केवल अपने शरीर के सुख विहार के लिए अथवा भावी जनता पर अनुकंपा करते हुए वे एकांत विहार के लिए निकल जाते थे।

**लद्धसहायो खो पन सो भगवा सेखानञ्चेव पटिपन्नानं खीणासवानञ्च वुसितवतं।**

– जो ब्रह्मचरण पूरा करने वाले क्षीणास्रव अरहंत हैं और जो शैक्ष्य हैं, उनका साथ उपलब्ध होते हुए भी,

**ते भगवा अपनुज्ज एकारामतं अनुयुत्तो विहरति।**

– वे भगवान उन सबको त्याग कर बिना किसी को साथ लिए अकेले, एकारामता में (प्रीति, सौमनस्ययुक्त) विहार करते थे।

जो क्षीणास्रव अरहंत थे, वे तो अशैक्ष्य थे। उन्हें किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं रह गयी थी। वे चरम अवस्था प्राप्त कर चुके थे। परंतु जो शैक्ष्य थे, उन्हें अभी सीखना बाकी था, वे यद्यपि अरहंत नहीं हुए, तथापि स्रोतापन्न, सकदागामी अथवा अनागामी अवस्था प्राप्त कर निर्वाणदर्शी तो हो ही चुके थे। उन्हें आवश्यक आदेश- निर्देश देकर भगवान एकांतवासी हो जाया करते थे, ताकि पीछे से वे स्वयं तपते रहें और भगवान को शरीर की क्लान्ति मिटाने के लिए एकांत ध्यान का अवसर मिल सके; साथ ही साथ भावी पीढ़ियों के लिए भी यह एक अनुकरणीय आदर्श उपस्थित हो जाय कि भगवान जैसे मुक्त महापुरुष भी समय-समय पर एकांत ध्यान किया करते थे, ताकि भविष्य के आचार्य तथा अन्य साधक भी समय-समय पर स्वयं एकांत ध्यान करें।

भगवान बुद्ध के आठ गुणों में से इस एक गुण का वर्णन करते हुए देवराज शक्र ने कहा था –

**एवं एकारामतं अनुयुत्तं इमिनापङ्गेन समन्नागतं**

– यों एकांत में अकेले सुख विहार करने वाले इस अंग से युक्त,

**सत्थारं नेव अतीतंसे समनुपस्साम, न पनेतरहि अञ्ञत्र तेन भगवता।**

(दी० नि० २.२९६, महागोविन्दसुत्त)

– भगवान को छोड़ कर अन्य ऐसा कोई शास्ता हमने न अतीतकाल में देखा और न आज ही देख रहे हैं।

आजीवन लोगों के बीच रह कर उनकी धर्म- सेवा करते रहने वाले भगवान बुद्ध ऐसे एकांत-प्रेमी, शांति-प्रेमी, मौन-प्रेमी भी थे।

इसके अतिरिक्त और भी अनेक विशेषताएं थी जिनके कारण बुद्ध 'बुद्ध' कहलाते थे।

## किस अर्थ में बुद्ध

**केनट्ठेन बुद्धो** – किस अर्थ में बुद्ध हैं?

**बुज्झिता सच्चानीति बुद्धो** – सत्य का वोध प्राप्त किया, इस अर्थ में बुद्ध हैं।

**वोधेता पजायाति बुद्धो** – लोगों को सत्य का वोध दिया, इस अर्थ में बुद्ध हैं।

**सब्बञ्ञुताय बुद्धो** – सर्वज्ञ के अर्थ में बुद्ध हैं।

**सब्बदस्साविताय बुद्धो** – सर्वदर्शी के अर्थ में बुद्ध हैं।

**अनञ्ञनेय्यताय बुद्धो** – किसी अन्य से न प्राप्त हुए ज्ञान के लाभी होने के अर्थ में बुद्ध हैं।

**विसविताय बुद्धो** – प्रतापी, समर्थ होने के अर्थ में बुद्ध हैं।

**खीणासवसङ्खातेन बुद्धो** – क्षीणास्रव होने के अर्थ में बुद्ध हैं।

**निरुपलेपसङ्खातेन बुद्धो** – निर्लेप होने के अर्थ में बुद्ध हैं।

**एकन्तवीतरागोति बुद्धो** – नितांत वीतराग होने के अर्थ में बुद्ध हैं।



**एकन्तवीतदोसोति बुद्धो** – नितांत वीतद्वेष होने के अर्थ में बुद्ध हैं।

**एकन्तवीतमोहोति बुद्धो** – नितांत वीतमोह होने के अर्थ में बुद्ध हैं।

**एकन्तनिक्किलेसोति बुद्धो** – नितांत निष्क्लेश होने के अर्थ में बुद्ध हैं।

**एकायनमग्गं गतोति बुद्धो** – एकमात्र मुक्ति की ओर ले जाने वाले मार्ग पर चले, इस अर्थ में बुद्ध हैं।

**एको अनुत्तरं सम्मासम्बोधिं अभिसम्बुद्धोति बुद्धो।**

– एकाकी सम्यक संबोधि उपलब्ध की, इस अर्थ में बुद्ध हैं।

**अबुद्धिविहतत्ता बुद्धिपटिलाभा बुद्धो** – स्वयं अवोधि को नष्ट कर वोधि-लाभी होने के अर्थ में बुद्ध हैं। (पटि० म० १.१६२, वोदानञाणनिद्देस)

## 'बुद्ध' नाम

'बुद्ध' नाम न उनकी माता महामाया का दिया हुआ था, न पिता शुद्धोदन का, न भाई का, न बहन का, न मित्र का, न अमात्य का, न किसी जाति-बंधु का, न किसी अन्य श्रमण-ब्राह्मण का और न किसी देव-ब्रह्मा का दिया हुआ था। यह तो उनके अपने परिश्रम से बोधिवृक्ष के तले बोधि प्राप्त करने पर उपलब्ध हुआ नाम था।

## स्वयंभू बुद्ध

वैसे तो जो भी अरहंत हुए, सबने बोधि ही प्राप्त की। अतः बुद्ध ही कहलाये। जैसे कि कहा गया –

**बुद्धानुबुद्धो यो थेरो, कोण्डञ्ञो तिब्बनिक्कमो।**

(थेरगा० १२५५, वङ्गीसत्थेरगाथा)

– बुद्ध के बाद बुद्ध हुए स्थविर कौंडण्य महा पराक्रमी थे।

इसीलिए बुद्ध अनेक हुए, ऐसा कहा जाता है। परंतु भगवान गौतम सम्यक संबुद्ध थे। उनकी अपनी विशेषता थी। उन्होंने खोये हुए विमुक्ति मार्ग को स्वयं खोजा और उस पर चल कर बोधि प्राप्त की। वे किसी पूर्वकालीन बुद्ध के बताये हुए मार्ग पर चल कर बुद्ध नहीं हुए। पूर्वकालीन

बुद्ध का बताया हुआ मार्ग तब तक पूर्णतया विलुप्त हो चुका था। उस मार्ग के बारे में इन्होंने कुछ सुना तक नहीं था। तभी कहा गया –

**यो सो भगवा सयम्भू** – वे भगवान जो स्वयंभू हैं,

**अनाचरियको** – जिनका कोई आचार्य नहीं है।

**पुब्बे अननुस्सुतेसु धम्मेसु सामं सच्चानि अभिसम्बुज्झि,**

– जिन्होंने पहले कभी न सुने हुए धर्म में स्वयं सत्य की अभिसंबोधि प्राप्त की।

**तत्थ च सब्बञ्ञुतं पत्तो** – जिससे कि उन्होंने सर्वज्ञता प्राप्त की।

**बलेसु च** – बुद्ध के (दस) बलों में, और

**वसीभावं** – वशवर्ती (प्रतापी) होने में सामर्थ्य प्राप्त किया।

(पटि० म० १.१६१, वोदानञाणनिद्देस)

इन छः बुद्ध-गुणों के कारण बुद्ध 'बुद्ध' ही नहीं, स्वयंबुद्ध हुए, संबुद्ध हुए; जब कि उनके वे श्रावक जो बुद्ध हुए, उन्होंने भगवान से सुने हुए, सुन कर समझे हुए मार्ग पर चल कर बोधि प्राप्त की। उन्होंने स्वयं मार्ग नहीं खोजा। यही सबसे बड़ी विशेषता थी गौतम बुद्ध की, जिसके लिए वही भगवान बुद्ध के नाम से विश्वविश्रुत हुए।

**इतिपि सो भगवा बुद्धो।**

# इतिपि सो भगवा भगवा

– वे बुद्ध ऐसे भगवान भी थे।

गौतम बुद्ध भगवान कहलाये। आज की बोलचाल की भाषा में भगवान का अर्थ होता है – ईश्वर या परमात्मा। ईश्वर अर्थात इस सृष्टि का निर्माण करने वाला, इसका पालन करने वाला और इसका संहार करने वाला। ईश्वर यानी वह जो संसार का मालिक है, जिसकी पूजा करने से, जिसका भजन गाने से, जिसका नाम जपने से, जिसका ध्यान करने से वह प्रसन्न हो जाता है और भक्तों के पापों को क्षमा कर, उन्हें भवसागर से तार देने का दावा करता है। यदि बुद्ध के लिए प्रयुक्त भगवान शब्द को ऐसे किसी अर्थ में मान लिया गया, तो गलत होगा। बुद्ध और उनकी शिक्षा का अवमूल्यन हो जायगा, क्योंकि उनकी शिक्षा को भली-भांति समझ कर किसी ने ठीक ही कहा –

**न हेत्थ देवो ब्रह्मा वा, संसारस्सत्थिकारको।**
**सुद्धधम्मा पवत्तन्ति, हेतुसम्भारपच्चया॥**

(विसुद्धि० २.६८९, पच्चयपरिग्गहकथा)

– संसार का निर्माण करने वाला न कोई देव है न ब्रह्मा। हेतु-प्रत्यय यानी कारणों पर आधारित मात्र शुद्ध धर्म प्रवर्तित हो रहे हैं।

संसारचक्र को इस स्पष्टता से समझने और समझाने वाले महापुरुष को हम संसार का निर्माता ईश्वर मान लेंगे तो वास्तविक 'भगवान' शब्द को दूषित कर लेंगे। परवर्ती पौराणिक काल में भगवान को इस अर्थ में माना जाने लगा कि वह किसी देवलोक का ऐसा समर्थ देवता है जो कि समय-समय पर इस पृथ्वी पर इस या उस रूप में अवतरित होता है यानी जन्म लेता है और साधु-सज्जनों का परित्राण तथा दुष्ट- दुर्जनों का विनाश करता है और जो उसकी शरण ग्रहण कर ले, उसे सारे पापों से मुक्त कर देने का दावा करता है। बुद्ध को ऐसा ईश्वरावतार मान लेना, उनके प्रति

तथा उनकी शिक्षा के प्रति नितांत अज्ञता का प्रदर्शन होगा। जो महापुरुष भव-संसरण से नितांत विमुक्त हो गये, जो बुद्धत्व प्राप्ति के विजयोल्लास में यही प्रथम उद्घोष करते हैं कि **पुन गेहं न काहसि** (ध० प० १५४, जरावग्ग), यानी अब मेरा पुनर्जन्म नहीं होगा और जो जीवन-भर लोगों को भव-संसरण से नितांत विमुक्त होने की साधना ही सिखाते रहे, जिनके बताये मार्ग पर चल कर उनके अपने ही जीवन काल में एक नहीं, दो नहीं, सौ नहीं बल्कि सहस्राधिक साधक-साधिकाएं भव-मुक्त हुयीं और जिन्होंने अपनी भव-मुक्ति का हर्षोद्गार प्रकट करते हुए कहा –

**धारेमि अन्तिमं देहं।** (थेरगा० ४८६, सोपाकत्थेरगाथा)

– मैंने यह अंतिम देह धारण किया हुआ है।

अथवा कहा कि –

**अन्तिमोयं समुस्सयो** – देह और चित्त का यह अंतिम समुच्चय है। और

**जातिमरणसंसारो, नत्थि दानि पुनब्भवो।** (थेरगा० २०२, वड्ढत्थेरगाथा)

– इस जन्म-मरण वाले संसार-संसरण में अब मेरा पुनर्भव यानी पुनर्जन्म नहीं होगा।

भव-भ्रमण से स्वयं नितांत विमुक्त हुए तथा भव-भ्रमण में पड़े हुए अन्य लोगों को नितांत भव-विमुक्त हो सकने की शिक्षा देने वाले बुद्ध की सायुज्यता, सारुप्यता और तादात्म्यता बार-बार जन्म लेने वाले भव- भ्रमण में पड़े हुए किसी ईश्वर नामधारी देवता से की जाय तो यह बुद्ध और उनकी शिक्षा के प्रति नितांत अज्ञता ही मानी जायगी। और फिर ऐसा ईश्वर जिसकी शरण ग्रहण कर लेने मात्र से वह अपने भक्त को सारे पापों से मुक्त कर देने का दावा करे, ऐसी मान्यता बुद्ध की शिक्षा के कितनी विपरीत है। वे तो डंके की चोट पर कहते हैं कि मैं तो मार्ग आख्यात करता हूं। तुम्हारी मुक्ति के लिए तपना तो तुम्हें ही पड़ेगा।

**तुम्हेहि किच्चमातप्पं, अक्खातारो तथागता।** (ध० प० २७६, मग्गवग्ग)

ऐसे मार्ग-आख्याता तथागत को तारक-ब्रह्म के अर्थ वाला भगवान मान लें, तो 'भगवान' शब्द के अर्थ का अनर्थ हो जायेगा। इसलिए समझें –



किस अर्थ में भगवान?

तो कहा गया –

**भगवाति, गारवाधिवचनं** – भगवान शब्द गौरव व गरिमा का पर्यायवाची है।

गौरव, गरिमायुक्त होने के कारण गौतम बुद्ध भगवान कहलाये।

**अपि च** – और फिर –

**भग्गरागोति भगवा** – राग भग्न कर लिया, इस माने में भगवान।

**भग्गदोसोति भगवा** – द्वेष भग्न कर लिया, इस माने में भगवान।

वीतराग और वीतद्वेष तो आठो ध्यान समापत्तियों से संपन्न व्यक्ति भी हो सकता है, जो कि मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा के ब्रह्मविहार का जीवन जीता है। लेकिन इससे अधिक महत्वपूर्ण है – वीतमोह होना, क्योंकि वीतराग, वीतद्वेष होते हुए भी किसी काल्पनिक मिथ्या मान्यता में उलझा हुआ, आत्मभाव में लिपटा हुआ, मोहग्रस्त व्यक्ति भवमुक्त नहीं होता। अतः मोह का नष्ट होना नितांत अनिवार्य है। इसीलिए कहा –

**भग्गमोहोति भगवा** – मोह भग्न कर लिया, इस माने में भगवान।

और फिर कहा –

**भग्गमानोति भगवा** – अभिमान नष्ट कर लिया, इस माने में भगवान।

**भग्गदिट्ठीति भगवा** – दार्शनिक मान्यताओं को भग्न कर लिया, इस माने में भगवान।

**भग्गकण्डकोति भगवा** – कंटक भग्न कर लिया, इस माने में भगवान।

**भग्गकिलेसोति भगवा** – क्लेश, काषाय भग्न कर लिये, इस माने में भगवान।

और फिर कहा –

**भजि विभजि पविभजि धम्मरतनन्ति भगवा,**

– भजि यानी जिसने धर्मरत्न का भजन किया, यानी सेवन किया, इस माने में भगवान।

आज की हिंदी में 'भजन' शब्द का अर्थ बदल गया। आज यह कीर्तन का पर्यायवाची बन गया है। उन दिनों की जनभाषा में इसका अर्थ सेवन करना अर्थात संगति करना था।

'भजन' विभाजन करने वाले को भी कहते थे। इस माने में भी कहा गया–

**भजि, विभजि, पविभजि** यानी जिसने एक शोधकर्त्ता वैज्ञानिक की भांति धर्मरत्न का विभाजन किया, भली प्रकार विभाजन किया, विभक्त किया, विघटन किया और यों विश्लेषण कर-कर के उसे भली प्रकार जान लिया, इस माने में भगवान।

**भवानं अन्तकरोति भगवा,**

– अपने भव-संस्कारों का अंत कर निर्वाण तक पहुँचे, इस माने में भगवान।

और फिर कहा–

**भावितकायो भावितसीलो भावितचित्तो भावितपञ्ञोति भगवा,**

– काया, शील, समाधि और प्रज्ञा की साधना भावित कर ली, इस माने में भगवान।

और फिर कहा–

**भागी** अर्थात भागीदार। जो ऐश्वर्य के भागीदार हैं; इस माने में भगवान।

**भागी वा भगवा अरञ्ञवनपत्थानि पन्तानि सेनासनानि अप्पसद्दानि अप्पनिग्घोसानि विजनवातानि मनुस्सराहस्सेय्यकानि पटिसल्लानसारुप्पानीति भगवा,**

– जो अरण्यपथ जैसे निःशब्द, निर्घोष, निर्जन, मनुष्यजन-असेवित ध्यान के उपयुक्त एकांत-सेवन-रूपी ऐश्वर्य के भागीदार हैं; इस माने में भगवान।



**भागी वा भगवा अत्थरसस्स धम्मरसस्स विमुत्तिरसस्स अधिसीलस्स अधिचित्तस्स अधिपञ्ञायाति भगवा,**

– अर्थरस, धर्मरस, विमुक्तिरस, अधिशील, अधिसमाधि और अधिप्रज्ञा के ऐश्वर्य के भागीदार हैं; इस माने में भगवान।

**भागी वा भगवा चतुन्नं झानानं चतुन्नं अप्पमञ्ञानं चतुन्नं अरूपसमापत्तीनन्ति भगवा**

– चार सामान्य ध्यान, चार अप्रामाण्य (ब्रह्मविहार) ध्यान, चार अरूप ध्यान समापत्तियों के ऐश्वर्य के भागीदार हैं; इस माने में भगवान।

**भागी वा भगवा चतुन्नं सतिपट्ठानानं चतुन्नं सम्मप्पधानानं चतुन्नं इद्धिपादानं पञ्चन्नं इन्द्रियानं पञ्चन्नं बलानं सत्तन्नं बोज्झङ्गानं अरियस्स अट्ठङ्गिकस्स मग्गस्साति भगवा,**

– चार स्मृति-प्रस्थान, चार सम्यक प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पांच इंद्रिय, पांच बल, सात बोध्यंग और आठ अंग वाला आर्य मार्ग– यों इन सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मों के ऐश्वर्य के भागीदार हैं; इस माने में भगवान।

**भागी वा भगवा दसन्नं तथागतबलानं चतुन्नं वेसारज्जानं चतुन्नं पटिसम्भिदानं छन्नं अभिञ्ञानं छन्नं बुद्धधम्मानन्ति भगवा,** (महानि० १४९, महावियूहसुत्तनिद्देस)

– दस तथागत बल, चार वैशारद्य, चार प्रतिसंभिदा, छः अभिज्ञान और छः बुद्ध-धर्म, यानी बुद्ध-गुणों के ऐश्वर्य के भागीदार हैं; इस माने में भगवान।

इन इन विशेषताओं के अर्थ में बुद्ध को भगवान कहा जाता है, न कि ईश्वर या परमात्मा के अर्थ में।

### भगवान नाम

**भगवाति नेतं नामं मातरा कतं, न पितरा कतं,**

– 'भगवान' नाम न माता का दिया हुआ है, न पिता का।

**न भातरा कतं, न भगिनिया कतं,**

– न भाई का दिया हुआ है, न बहिन का।

**न मित्तामच्चेहि कतं, न ञातिसालोहितेहि कतं,**

– न मित्रों व अमात्यों का दिया हुआ है, न जाति-बंधुओं का।

**न समणब्राह्मणेहि कतं, न देवताहि कतं,**

– न श्रमणों या ब्राह्मणों का दिया हुआ है, न देवताओं का।

तो यह नाम कैसे प्राप्त हुआ?

इसके उत्तर में कहा गया –

**विमोक्खन्तिकमेतं बुद्धानं भगवन्तानं बोधिया मूले सह सब्बञ्ञुतञ्ञाणस्स पटिलाभा सच्छिका पञ्ञत्ति यदिदं भगवा,** (महानि० १४९, महावियूहसुत्तनिद्देस)

– बोधिवृक्ष के तले विमोक्ष की अंतिम अवस्था प्राप्त करते हुए भगवान बुद्ध ने सर्वज्ञता ज्ञान की प्राप्ति के साथ-साथ जिस शुद्धि का स्वयं साक्षात्कार किया, उसी की प्रज्ञप्ति भगवान नाम में साक्षात स्थापित हुई। इसी के कारण 'भगवान' कहलाये।

इन्हीं गुणों के कारण गौतम बुद्ध लोगों में पूज्य हुए, गौरवान्वित हुए और भगवान कहलाये।

## भाग्यवान

शील आदि कुशल कर्मों के फलस्वरूप हमें जो लौकिक सुख, ऐश्वर्य मिलता है, इससे हम भाग्यवान कहलाते हैं। परंतु वे इन लौकिक सुखों को पार कर गये और लोकोत्तर निर्वाण के परम सुख के भागीदार बने। इसलिए सामान्य लोगों की भांति भाग्यवान न कहला कर भगवान कहलाये।

## विभाजनकर्ता

एक कुशल भौतिक वैज्ञानिक भौतिक पदार्थों का विभाजन-विश्लेषण करने के कारण, एक कुशल मनोवैज्ञानिक मन का विभाजन- विश्लेषण करने के कारण विभाजनकर्ता (विश्लेषक) कहला सकता है। परंतु जो इन



सामान्य विभाजन-विश्लेषण से ऊपर उठ कर नाम-रूप के पारस्परिक संबंधों का विभाजन-विश्लेषण करके, इंद्रियों और उनके विषयों के पारस्परिक संबंधों का विभाजन-विश्लेषण करके, कार्य-कारण के नैसर्गिक नियमों का यानी धर्म-स्थिति और धर्म-नियामता का विभाजन- विश्लेषण करके, दुःख आर्यसत्य और उसके कारण और निवारण का विभाजन-विश्लेषण करके, उसके परे निरोध-निर्वाण का साक्षात्कार कर चुके, वे सामान्य विभाजनकर्ता न कहला कर भगवान कहलाये।

## भजनकर्ता

आज जो भजन करता है उसे भक्त कहते हैं। उन दिनों शील, समाधि, प्रज्ञारूपी धर्म का सेवन करना, पालन करना, भजन कहलाता था। जिसने इस प्रकार भजन करके परममुक्त निर्वाण अवस्था स्वयं प्राप्त की और फिर उसे औरों के सुख के लिए प्रकाशित किया उसे ही लक्ष्य करके कहा गया –

**यदा च बुद्धा लोकस्मिं, उप्पज्जन्ति पभङ्करा।**
**ते इमं धम्मं पकासेन्ति, दुक्खूपसमगामिनं॥**

(अ० नि० १.४.४९, विपल्लाससुत्त)

– जब लोक में प्रभा (प्रकाश) करने वाले बुद्ध उत्पन्न होते हैं, तब वे दुःख को दूर करने वाले धर्म को प्रकाशित करते हैं।

इस प्रकार स्वयं भजन कर औरों को भजन के फलस्वरूप परम सुख बांटने वाले हुए। इस कारण भगवान कहलाये।

## सुखभोक्ता

कोई शासक अपनी शासन-सत्ता के सुख का, कोई धनी अपनी धनसंपदा के सुख का, कोई देव कामलोक के दिव्य कामसुखों का और कोई ब्रह्मा ब्रह्मलोक के ध्यान-सुख का भोग भोगता है। ये सब मानवी और दिव्य ब्राह्मी सुखों के भोगी हैं। भगवान बुद्ध इन सबके परे निर्वाण के परम सुख का उपभोग करते हैं। इसी कारण वे सामान्य भोगी नहीं, बल्कि भगवान कहलाये।

उनके उस निर्वाणिक ऐश्वर्य की स्पृहा सभी समझदार देव-मनुष्य करते हैं।

**तेसं देवा मनुस्सा च, सम्बुद्धानं सतीमतं।**
**पिहयन्ति हासपञ्ञानं, सरीरन्तिमधारिनं॥**

(इतिवु० ४१, पञ्ञापरिहीनसुत्त)

– देवता और मनुष्य उन स्मृतिमान और तीक्ष्ण प्रज्ञावान संबुद्धों की स्पृहा करते हैं, जिन्होंने अंतिम देह धारण किया है।

और कहा गया –

**ये झानपसुता धीरा, नेक्खम्मूपसमे रता।**
**देवापि तेसं पिहयन्ति, सम्बुद्धानं सतीमतं॥**

(ध० प० १८१, बुद्धवग्ग)

– जो धीर ध्यान में लगे हैं और निष्क्रमण के परिणामस्वरूप प्राप्त उपशमन अर्थात निर्वाण में रत हैं, उन स्मृतिमंत संबुद्धों की स्पृहा (कामभोगों में रत) देवता भी करते हैं।

सचमुच ऐसे ही संबुद्ध 'भगवान' कहलाने योग्य हैं।

परंतु कोई सामान्य, साधारण सांसारिक व्यक्ति, जो अभी भवचक्र से मुक्त नहीं हुआ है; जो अभी कामभोगों में निमग्न है; जो अभी राग, द्वेष और मोह से मुक्त नहीं हुआ है; तब भी अपने आप को भगवान घोषित करता है अथवा उसके अनुयायी उसे 'भगवान' के नाम से प्रचारित करते हैं, तो समझ लेना चाहिए कि वे अपने अज्ञान में 'भगवान' शब्द की गरिमा नष्ट कर रहे हैं। उन्हें 'भगवान' शब्द के सही अर्थ का भी ज्ञान नहीं है। जिसका कर्म स्वच्छ नहीं है वह भगवान कैसे हुआ? सुष्टु कर्म वाले ही भगवान होते हैं। तभी कहा गया –

**तथेव तं भगवा होति, तथेव तं सुगत होति।**

(सं० नि० २.४.३६५, पाटलियसुत्त)

– जैसे कि जो सुगत है वही भगवान है।



'भगवान' शब्द की अपनी गरिमा है; अपनी महिमा है; अपनी महत्ता है।

**भगवाति वचनं सेट्ठं** – 'भगवान' शब्द श्रेष्ठता का द्योतक है।

**भगवाति वचनमुत्तमं** – 'भगवान' शब्द उत्तमता का परिचायक है।

**गरुगारवयुत्तो सो** – गरिमा और गौरव से युक्त है।

**भगवा तेन वुच्चति** – इसीलिए ऐसा श्रेष्ठ, उत्तम, गौरव-गरिमापूर्ण व्यक्ति भगवान कहलाता है।

(विसुद्धि० १.१४२, बुद्धानुस्सतिकथा)

इन आठ गुणों के कारण लोकविश्रुत हैं तो ही भगवान हैं।

(१) भगवान लोगों पर अनुकंपा करते हुए बहुत जनों के हित-सुख और भले में लगे रहते हैं।

(२) भगवान जो धर्म सिखाते हैं, वह अच्छी तरह आख्यात होता है, यानी उसमें कोई लालबुझक्कड़ी पहेलियां नहीं होतीं। वह सांदृष्टिक सत्य पर आधारित होता है। उसमें मिथ्या कल्पनाओं को स्थान नहीं होता। वह अकालिक होता है, धारण करने पर अभी यहीं फलदायी होता है। वह चुनौती देते हुए आह्वान करता है कि उसे कोई भी आजमा कर देख ले, अर्थात वह सब के लिये खुला होता है, उसमें किसी प्रकार की बाड़ेबंदी नहीं होती। वह कदम-कदम मुक्त अवस्था के समीप ले जाने वाला होता है। उस पथ पर उठाया हुआ कोई कदम व्यर्थ नहीं जाता और वह प्रत्येक समझदार व्यक्ति द्वारा अनुभव करने योग्य होता है। दूसरे शब्दों में वह केवल किसी एक वर्ग, वर्ण, जाति, गोत्र, संप्रदाय अथवा समाज के लिए सुरक्षित नहीं होता। वह सबका होता है; सबके लिए होता है।

(३) भगवान जो शिक्षा देते हैं, उससे स्पष्ट हो जाता है कि क्या भला है, क्या बुरा? क्या कुशल है, क्या अकुशल? क्या करणीय है, क्या अकरणीय? क्या निंदनीय है, क्या अनिंदनीय?

(४) भगवान अपने शिष्यों को निर्वाण तक पहुँचने का मार्ग बहुत स्पष्ट रूप से सिखाते हैं। निर्वाण का पथ निर्वाण में इसी प्रकार समा जाता है, जैसे यमुना गंगा में समा जाती है।

(५) भगवान सारे समाज में अत्यंत लोकप्रिय होते हैं। लोग उन्हें श्रद्धापूर्वक जो भोजन परोसते हैं, उसे वे स्वाद के लिए नहीं बल्कि स्वास्थ्य के लिए ग्रहण करते हैं।

(६) भगवान के अनेक शैक्ष्य और अशैक्ष्य शिष्य उनकी सेवा में उपस्थित रहते हैं, परंतु फिर भी वे समय-समय पर अकेले, एकांतवास करने चले जाते हैं।

(७) भगवान यथावादी तथाकारी, यथाकारी तथावादी होते हैं। उनकी कथनी और करनी में जरा भी अंतर नहीं होता।

(८) भगवान सभी विचिकित्साओं से यानी शंका-संदेहों से पूर्णतया मुक्त होते हैं, क्योंकि वे समस्त लौकिक और पारलौकिक तथा लोकोत्तर सत्यों के अनुभूतिजन्य जानकार होते हैं। वे पूर्ण संकल्प होते हैं। वे कृत-कृत्य होते हैं। मुक्त अवस्था तक पहुँचने के लिए उन्हें और कुछ करना नहीं रह जाता है।

भगवान के इन गुणों की प्रशंसा देवेंद्र शक्र ने की और ब्रह्मा सनत्कुमार ने उसके कथन का अनुमोदन किया।

देवेंद्र शक्र ने कहा–

**एवं धम्मानुधम्मप्पटिपन्नं** – यों धर्म और अनुधर्म प्रतिपन्न,

**इमिनापङ्गेन समन्नागतं** – इस प्रकार के धर्म के अंग से संपन्न–

**सत्थारं नेव अतीतंसे समनुपस्साम, न पनेतरहि अञ्ञत्र तेन भगवता।**

– भगवान को छोड़ कर अन्य कोई शास्ता न मैंने अतीत में देखा और न अब देख रहा हूं।

(दी० नि० २.२९६, महागोविन्दसुत्त)

### भगवान के गुण अनेक

भगवान के देवेंद्र द्वारा गाये गये ये आठ गुण ही नहीं हैं; उनके गुण **अनेक हैं। परंतु जिस अत्यंत महत्त्वपूर्ण गुण के कारण वे भगवान कहलाते हैं, वह तो यही है कि**



**भग्गरागो... भग्गदोसो...** – राग भग्न कर लिया, द्वेष भग्न कर लिया, और इतना ही नहीं,

**भग्गमोहो** – मोह भी भग्न कर लिया और परिणामतः **अनासवो** यानी समस्त आस्रवों से मुक्त हो गये। (महानि० ५०, तिस्समेत्तेय्यसुत्तनिद्देस)

भगवान के लिए यह ठीक ही कहा गया कि–

**सो रागो सो दोसो सो मोहो तथागतस्स पहीनो**

– तथागत का वह राग, वह द्वेष और वह मोह नष्ट हो गया है;

**उच्छिन्नमूलो** – जड़ से उखड़ गया है;

**तालावत्थुकतो अनभावङ्कतो** – कटे सिर वाले ताड़ सदृश अभाव को प्राप्त हो गया है;

**आयतिं अनुप्पादधम्मो** – भविष्य में उत्पन्न होने लायक नहीं रह गया है।

(म० नि० २.५३, जीवकसुत्त)

उनका पुनर्जन्म नहीं हो सकता। उन्होंने मार को जीत लिया, अर्थात मृत्यु को जीत लिया है। यही उनका अंतिम जन्म है। इसके बाद और जन्म नहीं होगा। यही उनकी अंतिम मृत्यु होगी, क्योंकि मृत्यु के बाद जब पुनर्जन्म ही नहीं होगा, तो पुनर्मृत्यु कैसे होगी? उन्होंने अपने जन्म-मरण के भवचक्र को भग्न कर दिया, इस माने में भगवान हैं।

ऐसा गुण जिस व्यक्ति में हो, वही भगवान कहलाने का अधिकारी है। जो अपने आपको भगवान कहे या जिसे लोग भगवान कहें, वह इन गुणों से संपन्न है या नहीं, यह देख लेना चाहिये। 'भगवान' शब्द का दुरुपयोग नहीं होना चाहिए।

### स्थितप्रज्ञ

भगवान स्थितप्रज्ञ होते हैं। कौन होता है स्थितप्रज्ञ? वह व्यक्ति जो प्रतिक्षण प्रज्ञा में स्थित रहे।

क्या होती है प्रज्ञा? जो कुछ पढ़ा या सुना है, उसे श्रद्धा के आधार पर अथवा बुद्धिजन्य तर्कों के आधार पर स्वीकारने से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह केवल श्रुत- ज्ञान और चिंतनज्ञान है। यह पराया ज्ञान है, अपना ज्ञान नहीं है। परोक्ष ज्ञान है; अपरोक्ष ज्ञान नहीं है। जो प्रत्यक्ष ज्ञान है, वही प्रज्ञान है, प्रज्ञा है। सच्चाई स्वयं अपनी अनुभूति पर उतरे, तो ही प्रत्यक्ष ज्ञान है, तो ही प्रज्ञा है। सच्चाई इस बात की कि जो शरीर और चित्त का तथा इंद्रियों और उनके विषयों का क्षेत्र है, उसमें प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय होता रहता है, वह अनित्य है, नश्वर है, भंगुर है, क्षण-क्षण परिवर्तनशील है, और सच्चाई इस बात की कि इनके परे का वह क्षेत्र जो परम सत्य है; वह नित्य है, शाश्वत है, ध्रुव है, अविनाशी है, अजर है, अमर है, अपरिवर्तनशील है। ये दोनों सत्य स्वयं अपनी अनुभूति पर उतरें, तो ही सही माने में प्रज्ञावान होता है, अन्यथा श्रुत-ज्ञानी अथवा चिंतनज्ञानी ही होता है। जो वस्तुतः स्थितप्रज्ञ है, वह जितनी देर इंद्रियातीत अवस्था में रहता है, उतनी देर नित्यता की सच्चाई में स्थित रहता है। बाकी समय जितनी देर ऐंद्रिय क्षेत्र में विचरण करता है, यानी शरीर और चित्त के क्षेत्र में विचरण करता है, उतनी देर उसे अनित्यता का बोध बना रहता है। अनित्यता का बोध बना रहता है तो ही क्षण-क्षण परिवर्तित काया और चित्त के प्रति सतत अनासक्ति बनी रहती है। ऐसा हो तो ही प्रज्ञा सम्यक प्रज्ञा होती है; ज्ञान सम्यक ज्ञान होता है। ऐसा व्यक्ति संप्रज्ञानी कहलाता है। संप्रज्ञान की सफलता इसी बात में है कि ऐंद्रिय क्षेत्र का जीवन जीते हुए उसके परिवर्तनशील उदय-व्यय स्वभाव को स्वानुभूति के स्तर पर जानता रहे, उस प्रज्ञामय ज्ञान का सातत्य बनाये रखे। इसीलिए किसी संप्रज्ञानी के लिए कहा गया –

**अभिक्कन्ते पटिक्कन्ते सम्पजानकारी होति,**

– अभिक्रमण और प्रतिक्रमण करते हुए अर्थात आगे जाते हुए और पीछे लौटते हुए संप्रज्ञानी बना रहता है।

**आलोकिते विलोकिते सम्पजानकारी होति,**

– आलोकन-विलोकन करते हुए संप्रज्ञानी बना रहता है।



**समिञ्जिते पसारिते सम्पजानकारी होति,**

– (शरीर का कोई भी अंग) सिकोड़ते या पसारते हुए संप्रज्ञानी बना रहता है।

**सङ्घाटिपत्तचीवरधारणे सम्पजानकारी होति।**

– संघाटी यानी चादर, चीवर और भिक्षा- पात्र धारण करते हुए संप्रज्ञानी बना रहता है।

**असिते पीते खायिते सायिते सम्पजानकारी होति,**

– भोजन का आस्वादन लेते, पीते, खाते, चखते संप्रज्ञानी बना रहता है।

**उच्चारपस्सावकम्मे सम्पजानकारी होति,**

– मल-मूत्र त्यागते हुए संप्रज्ञानी बना रहता है।

**गते ठिते निसिन्ने सुत्ते जागरिते भासिते तुण्हीभावे सम्पजानकारी होति।**

(दी० नि० २.३७६, महासतिपट्ठानसुत्त)

– चलते, खड़े, बैठे, सोते, जागते, बोलते और मौन रहते हुए संप्रज्ञानी बना रहता है।

कोई भी गंभीर विपश्यी साधक इस अभ्यास को खूब समझता है। इसी अभ्यास को बढ़ाते हुए कोई स्थितप्रज्ञ बनता है। जो भगवान हैं वे ऐसे ही स्थितप्रज्ञ हैं। वे औरों को भी ऐसे ही स्थितप्रज्ञ बनने की विद्या सिखाते हैं।

सति यानी स्मृति अर्थात सजगता में प्रतिष्ठित होना ही सतिपट्ठान है और स्मृति तभी सम्यक होती है जबकि संप्रज्ञान अर्थात स्वयं अनुभूत प्रज्ञा के साथ जुड़ी होती है। भगवान ने स्मृति की यही व्याख्या की –

**काये कायानुपस्सी विहरति... वेदनासु वेदनानुपस्सी विहरति... चित्ते चित्तानुपस्सी विहरति... धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा।**

– तपता हुआ साधक स्मृतिमान और संप्रज्ञानी रहते हुए काया, वेदना, चित्त और धर्म की अनुपश्यना करता है।

ऐसा साधक निरंतर विपश्यना करता है तो उस अवस्था तक पहुंच जाता है, जहां काया, वेदना, चित्त और धर्म के प्रति अर्थात रूप और नाम के प्रति –

**सति पच्चुपट्ठिता होति** – उसकी संप्रज्ञानमयी स्मृति प्रत्युपस्थित रहती है यानी सतत उपस्थित रहती है। यों प्रतिष्ठापित होती है, स्थित होती है। ऐसा व्यक्ति ही –

**अनिस्सितो च विहरति** – विमुक्त निरालंब अवस्था में विहार करता है।

(दी० नि० २.३७३,३७५, महासतिपट्ठानसुत्त)

यही व्यावहारिक स्थितप्रज्ञता है। भगवान होंगे तो इस अवस्था में सतत स्थित रहेंगे यानी स्थितप्रज्ञ होंगे तथा औरों को स्थितप्रज्ञ होने की विधि सिखाएंगे।

## जीवन्मुक्त

भगवान जीवन्मुक्त होते हैं। कौन होता है जीवन्मुक्त? वह व्यक्ति जो इसी जीवन में मुक्त अवस्था का अनुभव कर लेता है और मृत्युपर्यंत विमुक्ति का जीवन जीता है।

**यं मया पकतं कम्मं, अप्पं वा यदि वा बहुं।**
**सब्बमेतं परिक्खीणं, नत्थि दानि पुनब्भवो॥**

(थेरगा० ८०, उग्गत्थेरगाथा)

थोड़ा या बहुत जो कर्म मैंने (कभी) किया था, वह सब पूर्ण रूप से क्षीण हो गया। अब (मेरे लिए) पुनर्जन्म नहीं है।

जो यह आशा करता है कि मरने के बाद किसी की कृपा से मैं मुक्त हो जाऊंगा, परंतु इस जीवन में उसने मुक्ति का स्वयं अनुभव किया ही नहीं, ऐसा व्यक्ति जीवन्मुक्त नहीं है। वह कल्पनाजन्य मुक्ति की आशा में सारा जीवन बिता देता है। जो जीवन्मुक्त है, उसने अरहंत-फल की अर्थात इंद्रियातीत निरोध, निर्वाण अवस्था की स्वयं अनुभूति कर ली है, जहां सारे आस्रवों का क्षय हो जाता है, जहां नाम और रूप दोनों निरुद्ध हो जाते हैं।



इसी को भवमुक्त अवस्था कहते हैं। इसकी अनुभूति इसी जीवन में हो, तो ही जीवन्मुक्त होता है। ऐसा व्यक्ति स्वानुभूति द्वारा इस सच्चाई को जान लेता है। जीवन्मुक्त भगवान बुद्ध अपने अनुभव को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं –

**'इमे आसवा'ति यथाभूतं अब्भञ्ञासिं।**

– ये आस्रव हैं, इन्हें स्वानुभूति द्वारा यथाभूत जान लिया है।

**'अयं आसवसमुदयो'ति यथाभूतं अब्भञ्ञासिं।**

– यह आस्रवों का समुदय है, इसे स्वानुभूति द्वारा यथाभूत जान लिया है।

**'अयं आसवनिरोधो'ति यथाभूतं अब्भञ्ञासिं।**

– यह आस्रवों का निरोध है, इसे स्वानुभूति द्वारा यथाभूत जान लिया है।

**'अयं आसवनिरोधगामिनीपटिपदा'ति यथाभूतं अब्भञ्ञासिं।**

– यह आस्रवनिरोधगामिनी प्रतिपदा है, इसे स्वानुभूति द्वारा यथाभूत जान लिया है।

**तस्स मे एवं जानतो एवं पस्सतो कामासवापि चित्तं विमुच्चित्थ।**

– सो इस प्रकार जानते, इस प्रकार देखते यानी अनुभव करते मेरा चित्त काम-वासना संबंधी आस्रवों से भी मुक्त हो गया है।

**भवासवापि चित्तं विमुच्चित्थ।**

– भव-आस्रवों से अर्थात पुनर्जन्म देने वाले विकारों से भी विमुक्त हो गया है।

**अविज्जासवापि चित्तं विमुच्चित्थ।**

– अविद्या के यानी मोह-मूढ़ता के आस्रवों से भी विमुक्त हो गया है।

यह सब **जानतो पस्सतो** हुआ। दूसरे शब्दों में स्वयं अनुभव करते हुए हुआ। अतः धोखे की बात नहीं है। किसी ने कह दिया कि मैं तुझे मुक्त कर दूंगा, या किसी ने कह दिया कि मैंने तुम्हें मुक्त कर दिया, ऐसी

अंधविश्वासजन्य मान्यता के आधार पर मुक्ति स्वीकार नहीं कर ली गयी। स्वयं अपने परिश्रम-पराक्रम से, विपश्यना साधना द्वारा अपने आस्रवों को यानी विकारों की परतें उतारते-उतारते चित्त की नितांत आस्रव विमुक्त, विकारविमुक्त अवस्था अपने अनुभव द्वारा जान ली गयी।

यह श्रुत-ज्ञान नहीं है, अंधमान्यताजन्य ज्ञान नहीं है, बौद्धिक चिंतनज्ञान नहीं है। यह अनुभूत ज्ञान है। यह अवस्था प्राप्त होने पर ही भगवान ने कहा –

**खीणा जाति** – जन्म क्षीण हो गया, खत्म हो गया। अब और जन्म नहीं है।

**वुसितं ब्रह्मचरियं** – जिस अर्थ के लिए ब्रह्मचरण का जीवन जी रहा था, वह अर्थ सिद्ध हुआ। ब्रह्मचरण का जीवन जीना सफल सार्थक हुआ।

**कतं करणीयं** – विमुक्ति के लिए जो कुछ करणीय था, वह कर लिया, यानी कृत-कृत्य हुआ।

**नापरं इत्थत्ताय** – इस स्थिति के परे और कुछ नहीं है यानी न कुछ करणीय है और न ही इसके आगे भव-संसरण है।

(म० नि० १.५४, भयभेरवसुत्त)

यहीं, इसी जीवन में भवचक्र से विमुक्त हो जाने की अवस्था प्राप्त कर अनुभूति पर उतार ली। भगवान ऐसे जीवन्मुक्त थे। औरों को भी ऐसी ही जीवन्मुक्ति प्राप्त करने का मार्ग दिखाते थे, विधि सिखाते थे।

## अनासक्त

भगवान सभी आसक्तियों से विमुक्त होते हैं। सर्वथा निःसंग, निःस्पृह, निरासक्त होते हैं। जिस किसी व्यक्ति, वस्तु, स्थिति, घटना के प्रति मन में आसक्ति जागती है, उसके मूल में निश्चित रूप से 'मैं' या 'मेरे' का भाव होता है। हर आसक्ति का आधार 'मैं, मेरा' ही होता है। अतः नितांत निरासक्त होने के लिए 'मैं' और 'मेरे' के प्रति आसक्ति टूटनी अनिवार्य है। जब तक आत्मभाव यानी अहंभाव रहता है, तब तक 'मैं' का भाव बना



रहता है। और जब तक 'मैं' का भाव कायम है, तब तक जड़ों से आसक्ति निकलती नहीं। अतः सही माने में अनासक्त होने के लिए आत्मभाव को त्याग कर अनात्मभाव में, अहंभाव को त्याग कर निरहंभाव में, स्थापित होना आवश्यक है। कोई व्यक्ति तर्क-वितर्क करके बुद्धि के स्तर पर अथवा परंपरागत मान्यता के कारण अंधश्रद्धा के स्तर पर आत्मभाव अथवा अनात्मभाव या नैरात्मभाव की मान्यता में स्थित हो सकता है, पर ये दोनों श्रुत और चिंतन ज्ञान तक ही सीमित हैं। इनसे किसी दार्शनिक मान्यता का ही उद्गम और पोषण होता है।

परंतु भगवान सभी प्रकार की दार्शनिक मान्यताओं से मुक्त होते हैं। वे न आत्मवाद की मान्यता के संस्थापक या पोषक होंगे और न ही अनात्मवाद या नैरात्म्यवाद की मान्यता के। भगवान सभी दार्शनिक मान्यताओं से परे होते हैं। यदि कोई दार्शनिक मान्यता होगी, तो उसके प्रति आसक्ति बनी ही रहेगी।

**दिट्ठीनिवेसा न हि स्वातिवत्ता** – दृष्टि की आसक्ति से पार होना सुकर नहीं।

(सु० नि० ७९१, दुट्ठट्ठकसुत्त)

भगवान मान्यता के नहीं 'जान्यता' के धनी होते हैं। वे मानने को नहीं जानने को महत्त्व देते हैं। वे सभी मान्यताओं से ऊपर उठ गये होते हैं। तभी सही माने में अनासक्त और मुक्त होते हैं।

भगवान की अपनी कोई दार्शनिक मान्यता नहीं होती। भगवान दार्शनिक नहीं होते। इसलिए किसी दार्शनिक मान्यता को स्थापित नहीं करते।

एक बार वच्छगोत्त ब्राह्मण ने भगवान से पूछा –

**अत्थि पन भोतो गोतमस्स किञ्चि दिट्ठिगतं** – क्या आप गौतम की कोई दार्शनिक मान्यता है?

**दिट्ठिगतन्ति खो, वच्छ, अपनीतमेतं तथागतस्स।** (म० नि० २.१८९, अग्गिवच्छसुत्त)

– वत्स, तथागत की दार्शनिक मान्यताएं दूर हो गयी हैं।

भगवान ने यह भली-भांति समझाया कि दार्शनिक मान्यताओं की कैसे उत्पत्ति होती है और कैसे उनसे छुटकारा पाया जाता है।

## दार्शनिक मान्यताओं की उत्पत्ति

उन दिनों के भारत में जो अनेक प्रकार की दार्शनिक मान्यताएं प्रचलित थीं उनमें से कुछ इस संसार के आदि और अंत तथा उसके शाश्वत और अशाश्वत होने के प्रश्नों से संबंधित थीं। कुछ मान्यताएं प्राणियों के आदि और अंत तथा उनके शाश्वत-अशाश्वत होने के प्रश्नों से संबंधित थीं।

(१) इन अनेक मान्यताओं की उत्पत्ति का एक कारण तो यह था -

**एकच्चो समणो वा ब्राह्मणो वा आतप्पमन्वाय... तथारूपं चेतोसमाधिं फुसति, यथासमाहिते चित्ते,**

(दी० नि० १.३१, ब्रह्मजालसुत्त)

- कोई एक श्रमण या ब्राह्मण तप करके ऐसी चित्त-समाधि का अनुभव करता है जिस समाहित चित्त से,

वह अपने कई पूर्व जन्मों को देखता है। भिन्न-भिन्न तपस्वी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की समाधियां प्राप्त कर कम या अधिक पूर्व जन्मों की सच्चाइयों को देखते हैं। वे अपनी-अपनी अनुभूतियों के आधार पर एक न एक दार्शनिक मान्यता स्थापित कर लेते हैं। जो तपस्वी जिस किसी देव या ब्रह्मलोक का साक्षात्कार करता है अथवा इन लोकों के संवर्तन (प्रकट) होने या विवर्तन (नष्ट) होने को देखता है, उन्हीं के आधार पर प्राणी के और लोक के शाश्वत, अशाश्वत या कुछ शाश्वत, कुछ अशाश्वत जैसी मान्यताएं स्थापित करता है। तपस्वी-तपस्वी के अनुभवों की अपनी-अपनी सामर्थ्य-सीमा होती है; किसी की कम, किसी की अधिक। इसी कारण समाज में एक से अधिक दार्शनिक मान्यताएं स्थापित हो जाती हैं।

यह अनुमान किया जा सकता है कि उन- उन तपस्वियों के शिष्य और उनके शिष्यानुशिष्यों की भावी परंपरा ध्यान की इन सीमित अवस्थाओं का स्वयं अनुभव न करने पर भी अपने गुरु अथवा पूर्वज गुरु की वाणी को



सत्य मान कर उन-उन दार्शनिक मान्यताओं के प्रति महज विश्वास के कारण आवद्ध हो जाते हैं। यही विश्वास आगे चल कर अंधविश्वास का रूप धारण कर लेता है। इन अंधभक्तिजन्य दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर समाज में भिन्न-भिन्न संप्रदाय स्थापित हो जाते हैं।

(२) दार्शनिक मान्यताओं के संस्थापन का एक और कारण यह होता है -

**एकच्चो समणो वा ब्राह्मणो वा तक्की होति वीमंसी।**

(दी० नि० १.३४, ब्रह्मजालसुत्त)

- कोई एक श्रमण या ब्राह्मण तार्किक होता है, बौद्धिक स्तर पर विचार-विमर्श करने वाला।

उसे स्वयं ध्यानजन्य अनुभव कुछ भी नहीं होता; तो भी अपनी दिमागी कसरत द्वारा, बौद्धिक ऊहापोह द्वारा, तर्कों के सामर्थ्य द्वारा लोक और प्राणियों के शाश्वत, अशाश्वत, उनके आदि और अंत को लेकर एक-न-एक काल्पनिक मान्यता स्थापित कर लेता है। बौद्धिक तर्कों की भी अपनी-अपनी सीमाएं होती हैं। अतः भिन्न-भिन्न बुद्धिवादी तार्किक अपनी-अपनी सामर्थ्य-सीमा के अनुसार कल्पना करते हुए भिन्न-भिन्न दार्शनिक मान्यताएं स्थापित कर लेते हैं और अपने-अपने तर्कों द्वारा उन्हें पुष्ट करते रहते हैं। यों भिन्न-भिन्न तर्कों के आधार पर समाज में भिन्न-भिन्न दार्शनिक मान्यताओं का प्रचलन हो जाता है। तार्किक गुरुओं के तार्किक शिष्य और उनकी तार्किक शिष्य-परंपराएं अपनी- अपनी दार्शनिक मान्यताओं को सच मान कर उनके प्रति अभिनिवेश पैदा करने लगती हैं। इन्हीं विभिन्न तर्कजन्य दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर समाज में भिन्न-भिन्न संप्रदाय स्थापित हो जाते हैं। इनसे अनेक प्रपंच फैलते हैं।

**सञ्ञानिदाना हि पपञ्चसङ्खा।**

(सु० नि० ८८०, कलहविवादसुत्त)

- सांसारिक प्रपंच **सञ्ञा** से यानी बुद्धिकिलोल से उत्पन्न होते हैं।

चाहे किसी तपस्वी की सीमित अनुभूति के कारण उत्पन्न और कालांतर में अंधश्रद्धा के आधार पर पुष्ट हुई कोई दार्शनिक मान्यता हो अथवा

किसी तार्किक के बौद्धिक सर्कस द्वारा उत्पन्न और कालांतर में अन्य तार्किकों के बुद्धि-किलोल द्वारा पुष्ट हुई कोई दार्शनिक मान्यता हो, उस मान्यता को मानने वाला संप्रदाय अपनी मान्यता को सही कहता है और दूसरे की मान्यता को गलत।

**इदमेव सच्चं, मोघमञ्ञं** - यही सत्य है, अन्य सब निरर्थक है, झूठ है।

इसी अंधविश्वास के आधार पर अपने मानस का जो स्वभाव बना लेता है, जो पूर्वधारणा बना लेता है -

**तदेव थामसा परामासा अभिनिविस्स वोहरन्ति।**

(दी० नि० २.३६६, सक्कपञ्हसुत्त)

- उसी को दृढ़तापूर्वक, आसक्तिजन्य अभिनिवेश से पकड़े रहता है।

### आत्मा की मान्यता

किसी दार्शनिक मान्यता को स्थापित करने और उसे पुष्ट से पुष्टतर करते रहने का एक और बड़ा कारण अपने आपके प्रति गहन आसक्ति है। भले और सब कुछ नष्ट हो जाय, परंतु यह 'मैं' अर्थात यह आत्मा कायम रहे और इस आत्मा के सतत कायम रहने के लिए कोई लोक कायम रहे। इसीलिए ऐसा चिंतन बहुत प्रिय लगता है कि यह जो आत्मा के रूप में 'मैं' हूं और इसके सतत निवास के लिए यह जो एक लोक है, ये दोनों नित्य हैं। 'मैं' के प्रति यानी आत्मा के प्रति गहन आसक्ति होने के कारण ही कोई व्यक्ति ऐसी मनपसंद दार्शनिक मान्यता गढ़ लेता है। तभी कहा -

**इध, भिक्खु, एकच्चस्स एवं दिट्ठि होति,**

**-** हे भिक्षु, यहां किसी की ऐसी दार्शनिक मान्यता होती है,

**सो लोको, सो अत्ता, सो पेच्च भविस्सामि निच्चो धुवो सस्सतो अविपरिणामधम्मो।**

**-** यह 'लोक' है यह आत्मा है और यही 'मैं' मर कर नित्य, ध्रुव, शाश्वत और अपरिवर्तनशील स्वभाव वाला बना रहूंगा।



और -

**सस्सतिसमं तथेव ठस्सामि** - अनंतकाल तक शाश्वत की तरह वहीं स्थित रहूंगा।

प्राणी अनंतकाल तक बना रहना चाहता है। परंतु यह तभी संभव है जब कि जिस आत्मा को 'मैं' कहता है, वह अनंतकाल तक बनी रहे और वह लोक जिसमें स्थित रहने की कल्पना करता है, वह भी अनंतकाल तक बना रहे। इसीलिए ऐसी मनोनुकूल मान्यता स्थापित करता है और यदि किसी ने स्थापित की है तो प्रसन्न चित्त से वह उसका साथ देता है और उसके प्रति आसक्त होता है।

आत्मभाव के प्रति आसक्त हुआ ऐसा व्यक्ति जब यह सुनता और समझता था कि शुद्ध धर्म के मार्ग पर चलने से यह मिथ्या दार्शनिक मान्यता टूट जायगी, सारे कर्म- संस्कारों का निरोध हो जायगा, निर्वाण हो जायगा और उस अवस्था में कोई 'मैं' नहीं रहेगा, तो घबराता था। अरे, जब 'मैं' ही नहीं रहेगा तो यह निर्वाण का परम सुख भी किस काम का, जिसे मैं भोग ही नहीं पाऊंगा। वह इस चिंतनमात्र से व्याकुल हो उठता था कि -

**उच्छिज्जिस्सामि नामस्सु** - हाय, मैं उच्छिन्न हो जाऊंगा।

**विनस्सिस्सामि नामस्सु** - हाय, मैं विनष्ट हो जाऊंगा।

**नस्सु नाम भविस्सामि** - हाय, मेरा अस्तित्व ही नहीं रहेगा।

**सो सोचति किलमति परिदेवति उरत्ताळिं कन्दति**

- यों वह चिंतित होता था, व्याकुल होता था, विलाप करता था, छाती पीट कर क्रंदन करता था।

**सम्मोहं आपज्जति** - (आत्म-संबंधी आसक्ति के कारण और अधिक) मोह में जा पड़ता था।

(म० नि० १.२४२, अलगद्दूपमसुत्त)

ऐसा व्यक्ति भगवान की निंदा करता था। उनकी शिक्षा की निंदा करते हुए कहता था -

**वेनयिको समणो गोतमो** – श्रमण गौतम विनयवादी है यानी दूर रखने वाला है।

**सतो सत्तस्स** – जिस सत्त्व (प्राणी) का अस्तित्व है उसके

**उच्छेदं विनासं विभवं पञ्ञापेति** – उच्छेद, विनाश, विभव होने की शिक्षा देता है।

विरोधियों द्वारा भगवान पर लगाया गया यह लांछन सर्वथा मिथ्या था। उन विरोधियों के मतानुसार पहले हम किसी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करें और फिर भगवान पर उसके विनष्ट किये जाने का आरोप लगाएं। जो है ही नहीं, उसका विनाश क्या?

'है या नहीं है', इसे स्वयं जांचने की विद्या सिखाते थे भगवान। विपश्यना के अभ्यास द्वारा साधक यह अनुभव करता है कि शरीर और चित्त नश्वर होने के कारण उनमें से कोई भी नित्य, ध्रुव आत्मा नहीं है और आगे जाकर यह भी स्पष्ट जान लेता है कि शरीर और चित्त के परे यानी इंद्रियातीत अवस्था में भी किसी नित्य आत्मा, सत्त्व या प्राणी का अस्तित्व नहीं है। तभी कहा गया–

**सइन्दा देवा सब्रह्मका सपजापतिका** – इंद्र, ब्रह्मा और प्रजापति सहित देवता

**अन्वेसं नाधिगच्छन्ति** – खोजने पर भी नहीं पा सकते कि

**इदं निस्सितं तथागतस्स विञ्ञाणं** – तथागत का विज्ञान (आत्मा) यहां स्थित है।

शरीर और चित्त के अनित्य क्षेत्र में और इन दोनों के परे नित्य, ध्रुव और निर्वाणिक क्षेत्र में भी जब किसी सत्त्व, प्राणी, विज्ञान, आत्मा आदि का अस्तित्व नहीं है तो उसके उच्छेद का, विनाश का, विभव का प्रश्न ही कहां उठता है?

जिसका अस्तित्व ही नहीं है, उसके उच्छेद का उपदेश भगवान क्या देते? वे तो जांच करके सच्चाई को स्वयं जान लेने का उपदेश देते थे और वह भी किसी दार्शनिक मान्यता की अथवा किसी संप्रदाय की स्थापना



करने के उद्देश्य से नहीं, बल्कि दुःख से नितांत विमुक्त होने के उद्देश्य से। जिसका अस्तित्व ही नहीं है, उसका मनोनुकूल, काल्पनिक अस्तित्व स्वीकार करके जो अहंमन्यता पैदा की जाती है, वही दुःखगामिनी प्रतिपदा है, भवचक्रगामिनी प्रतिपदा है और स्वयं अनुभव करके इस मिथ्या मान्यता से जो मुक्त हो जाना है, अहंमुक्त हो जाना है, वही दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा है, भवचक्रनिरोधगामिनी प्रतिपदा है। इसी एकमात्र उद्देश्य से भगवान धर्म सिखाते थे। वे कहते थे–

**पुब्बे चाहं, भिक्खवे, एतरहि च दुक्खं चेव पञ्ञापेमि दुक्खस्स च निरोधं।**

(म० नि० १.२४६, अलगद्दूपमसुत्त)

– भिक्षुओ, पहले भी और अब भी मैं केवल दुःख और दुःखनिरोध का ही उपदेश देता हूं।

परंतु आत्मभाव, अहंभाव का पोषण करने वाली किसी काल्पनिक आत्मा के अस्तित्व की मान्यता के प्रति जिनको गहरा चिपकाव था, वे भगवान के इस लोक-कल्याणकारी उद्देश्य को समझ नहीं पाते थे और समझने की कोशिश भी नहीं करते थे; भले इससे उनकी अपनी ही हानि क्यों न होती हो।

अहंभाव यानी आत्मभाव यानी 'मैं' को कायम रखने वाली मान्यता में जकड़ा हुआ व्यक्ति जो चिंतन करता है, वह गलत ही करता है और–

**एवं अयोनिसो मनसिकरोतो** – यों गलत तरीके से चिंतन करते हुए,

**छन्नं दिट्ठीनं अञ्ञतरा दिट्ठि उप्पज्जति** – उसमें छः दृष्टियों में से कोई एक दृष्टि उपजती है।

क्योंकि उसे अपने 'मैं' से गहरी आसक्ति है, अतः एक शरीर-स्कंध और चार चित्त-स्कंध, इन पांच स्कंधों में से किसी एक के आत्मा होने की कल्पना करता है। इस काल्पनिक आत्मा-संबंधी चिंतन पर आधारित कोई ऐसी एक दृष्टि या दार्शनिक मान्यता उपजती है। जैसे कि–

(१) 'अत्थि मे अत्ता'ति वा अस्स सच्चतो थेततो दिट्ठि उप्पज्जति,

– 'मेरी आत्मा है', यह सच है। ऐसे विश्वास से (एक) दार्शनिक मान्यता उपजती है।

पंचस्कंधों में से जिस एक स्कंध को आत्मा मान लिया, उसे छोड़ कर बाकी सब आत्मा नहीं है। ऐसी कल्पना के आधार पर जब चिंतन चलता है तब ऐसी एक दार्शनिक मान्यता उपजती है कि–

(२) 'नत्थि मे अत्ता' – यह मेरी आत्मा नहीं है अर्थात बाकी चारों स्कंध मेरी आत्मा नहीं हैं।

किसी काल्पनिक आत्मा के अस्तित्व के प्रति अंधविश्वास जग जाय, तो उसे सिद्ध करने के लिए एक और कल्पना की जाती है कि मैं आत्मा को आत्मा से देख रहा हूं। इसे संज्ञा (बुद्धि) द्वारा जान रहा हूं। तब ऐसी एक दार्शनिक मान्यता उपजती है, कि–

(३) **अत्तनाव अत्तानं सञ्जानामि** – आत्मा को आत्मा से (संज्ञा द्वारा) जानता हूं।

पर जब कोई प्रश्न करे कि हम अपनी आंखों से अपनी आंख नहीं देख सकते, तो आत्मा से आत्मा कैसे देखी जा सकती है भला? तो सोच में पड़ जाता है। फिर एक रास्ता निकालता है – सच है आत्मा से आत्मा नहीं देखी जा सकती, अतः इन पांच स्कंधों में से जिस किसी को आत्मा मान लिया है, उससे बाकी स्कंधों को देखता हूं जो अनात्म हैं, आत्मा नहीं हैं। यों काल्पनिक चिंतन के आधार पर दोनों को अलग-अलग करके आत्मा के अस्तित्व की आस्था को पुष्ट करता है और तब ऐसी एक दार्शनिक मान्यता उपजती है, कि–

(४) **अत्तनाव अनत्तानं सञ्जानामि** – मैं आत्मा से अनात्मा को (संज्ञा द्वारा) जानता हूं।

अथवा इसी से मिलती-जुलती और एक दार्शनिक मान्यता उपजती है, जैसे कि–

(५) **अनत्तनाव अत्तानं सञ्जानामि** – मैं अनात्मा से आत्मा को (संज्ञा द्वारा) जानता हूं।



इस प्रकार की सभी मान्यताओं के पीछे एक अलग-थलग आत्मा के अस्तित्व की स्वीकृति प्रमुख रूप से काम करती है। तभी यह एक मान्यता दृढ़मूल होकर उपजती है कि–

(६) **यो मे अयं अत्ता वदो वेदेय्यो** – यह जो मेरी आत्मा कही जाती है,

**तत्र तत्र कल्याणपापकानं कम्मानं विपाकं पटिसंवेदेति** – वह कभी वहां, कभी वहां अपने अच्छे-बुरे कर्मों का फल भोगती है।

इस मत के आधार पर ही यह दार्शनिक मान्यता पुष्टि पाती है कि–

**अयं अत्ता** – यह आत्मा–

**निच्चो** – नित्य है,

**धुवो** – ध्रुव है,

**सस्सतो** – शाश्वत है।

**अविपरिणामधम्मो** – अपरिवर्तनशील स्वभाव वाली है।

अतः जैसी है, जन्म-जन्मांतरों तक–

**तथेव ठस्सतीति** – वैसी ही बनी रहती है। (म० नि० १.१९, सब्बासवसुत्त)

इस पर भगवान कहते हैं–

**ननायं, भिक्खवे, केवलो परिपूरो बालधम्मो।**

(म० नि० १.२४४, अलगद्दूपमसुत्त)

– भिक्षुओ, क्या यह एकदम से बचपना नहीं है, अनाड़ीपन नहीं है?

ऐसी सारी मान्यताएं बुद्धिजन्य कल्पनाओं पर आधारित हैं, अथवा अधूरी अनुभूतियों पर आधारित हैं। अतः सच न होने के कारण हानिकारक हैं, दुःखदायी हैं।

**इदं वुच्चति, भिक्खवे, दिट्ठिगतं** – भिक्षुओ, इसे कहते हैं दार्शनिक मान्यताओं में जा पड़ना।

**दिट्ठिगहनं** – (यह) दार्शनिक मान्यता का घना जंगल है।

**दिट्ठिकन्तारं** – दार्शनिक मान्यता का कंतार है, मरुस्थल है।

**दिट्ठिविसूकं** - दार्शनिक मान्यता का क्रीड़ा-किलोल है, खेल है, दिखावा है, प्रपंच है।

**दिट्ठिविप्फन्दितं** - दार्शनिक मान्यता की फुदकन है, तड़पन है।

**दिट्ठिसंयोजनं** - दार्शनिक मान्यता का फंदा है, बंधन है।

**दिट्ठिसंयोजनसंयुत्तो, भिक्खवे, अस्सुतवा पुथुज्जनो** - जिसने कभी सद्धर्म सुना ही नहीं, ऐसा अज्ञ, अश्रुतवान व्यक्ति दार्शनिक मान्यताओं के बंधन में बँधा हुआ,

**न परिमुच्चति जातिया जराय मरणेन सोकेहि परिदेवेहि दुक्खेहि दोमनस्सेहि उपायासेहि।**

- जन्म, मृत्यु और बुढ़ापे से मुक्त नहीं होता और न ही मुक्त होता है शोक-विह्वलता से, रोदन-क्रंदन से, दुःख-दौर्मनस्य से और चिंता-परेशानियों से।

**न परिमुच्चति दुक्खस्माति वदामि** - मैं कहता हूं कि वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

(म० नि० १.१९, सब्बासवसुत्त)

भगवान यह बात बड़े दावे के साथ कहते हैं। कारण स्पष्ट है। जब तक आत्मभाव, अहंभाव कायम रहेगा, 'मैं-मेरे' का संयोजन कायम रहेगा, तब तक भवमुक्त कैसे होगा? भवमुक्त नहीं होगा तो दुःखमुक्त कैसे होगा? अपने अस्तित्व को कायम रखने की तीव्र लालसा के आधार पर ही वह ऐसी मान्यताओं से जुड़ा रहता है। उसका अस्मिता-भाव उसे किसी न किसी लोक से बांधे रखता है क्योंकि यही उसकी मनभावनी मान्यता है। इसी के कारण उसकी भव-संतति सतत बनी रहती है। मनुष्य का अस्मिता-भाव इतना प्रबल होता है कि उसकी अधिकांश दार्शनिक मान्यताएं इसी पर आधारित होती हैं। ये सभी मान्यताएं केवल मान्यताएं ही हैं जिनका कोई ठोस अस्तित्व नहीं है।

**अस्मीति भिक्खु मञ्जितमेतं** - "मैं हूं", यह (मात्र) मान्यता है।



**अयमहमस्मीति मञ्जितमेतं** - (नाम और रूप के पांच स्कंधों में से किसी एक स्कंध को कहता है) यह 'मैं' हूं, (यह मात्र मान्यता है।)

**भविस्सं** - मैं (मर कर) यह होऊंगा, (यह मात्र मान्यता है।)

**न भविस्सं** - मैं (मर कर किसी अधोलोक का प्राणी) नहीं होऊंगा, (यह मात्र मान्यता है।)

**रूपी भविस्सं** - मैं (मर कर) रूप ब्रह्मलोक का प्राणी होऊंगा, (यह मात्र मान्यता है।)

**अरूपी भविस्सं** - मैं (मर कर) अरूप ब्रह्मलोक का प्राणी होऊंगा, (यह मात्र मान्यता है।)

**सञ्ञी भविस्सं** - मैं (मर कर) संज्ञी लोक का प्राणी होऊंगा, (यह मात्र मान्यता है।)

**असञ्ञी भविस्सं** - मैं (मर कर) असंज्ञी लोक का प्राणी होऊंगा, (यह मात्र मान्यता है।)

**नेवसञ्ञीनासञ्ञी भविस्सं** - मैं (मर कर) न संज्ञी और न असंज्ञी लोक का प्राणी होऊंगा, (यह मात्र मान्यता है।)

जहां केवल मान्यता ही मान्यता है, जहां सच्चाई को स्वानुभूति द्वारा संपूर्णतया जान लेने का काम हुआ ही नहीं, वहां अहंजन्य कल्पनाओं का घटाटोप छाया रहता है। यह अहंजन्य, काल्पनिक दार्शनिक मान्यताएं लोकचक्र से जोड़े रखती हैं। अतः खतरनाक ही खतरनाक हैं। तभी कहा -

**मञ्जितं, भिक्खु, रोगो** - भिक्षु, दार्शनिक मान्यता रोग है।

ऐसा भवरोग है, जो जन्म-जन्मांतरों तक रोगी बनाये रखता है।

**मञ्जितं गण्डो** - मान्यता फोड़ा है।

ऐसा नासूर है जो जन्म-जन्मांतरों तक रिसता रहता है।

**मञ्जितं सल्लं** - मान्यता शल्य है। (म० नि० ३.३६९, धातुविभङ्गसुत्त)

ऐसा तीर है, भाला है जो जन्म-जन्मांतरों तक बींधता और पीड़ित करते रहता है।

दार्शनिक मान्यता के आधार पर ही संप्रदाय बनते हैं। अतः जैसे आजकल वैसे ही उन दिनों भी भिन्न-भिन्न संप्रदाय भिन्न-भिन्न दार्शनिक मान्यताओं को मानने वाले थे।

**तेन खो पन समयेन** - उस समय

**सम्बहुला नानातित्थियसमणब्राह्मणपरिब्बाजका**

- बहुत से भिन्न-भिन्न संप्रदायवादी, जो श्रमणों में से भी थे, ब्राह्मणों में से भी थे और परिव्राजकों में से भी थे,

**सावत्थियं पटिवसन्ति** - श्रावस्ती में रहते थे। वे -

**नानादिट्ठिका** - नाना दार्शनिक मान्यताएं मानने वाले थे,

**नानाखन्तिका** - नाना मत-मतांतरों को मानने वाले थे,

**नानारुचिका** - नाना रुचि वाले थे, और -

**नानादिट्ठिनिस्सयनिस्सिता** - नाना प्रकार की दार्शनिक मान्यताओं में बँधे हुए थे।

वे अपनी-अपनी मान्यता के प्रति अत्यंत आसक्त थे। अतः वे हठपूर्वक यह दावा करते थे कि उनकी मान्यता ही ठीक है, बाकी सब मिथ्या है।

**इदमेव सच्चं मोघमञ्ञं** - यही सच है, अन्य मिथ्या है।

इन भिन्न-भिन्न संप्रदायवादियों के भिन्न- भिन्न दार्शनिक मत थे। जैसे कि -

(१) **सस्सतो अत्ता च लोको च** - आत्मा और लोक शाश्वत हैं।

(२) **असस्सतो अत्ता च लोको च** - आत्मा और लोक अशाश्वत हैं।

(३) **सस्सतो च असस्सतो च अत्ता च लोको च** - आत्मा और लोक शाश्वत भी हैं और अशाश्वत भी।

(४) **नेव सस्सतो नासस्सतो अत्ता च लोको च** - आत्मा और लोक न शाश्वत हैं और न अशाश्वत।



(५) **सयंकतो अत्ता च लोको च** - आत्मा और लोक स्वयंकृत हैं अर्थात अपने आप निर्मित हुए हैं।

(६) **परंकतो अत्ता च लोको च** - आत्मा और लोक परकृत यानी किसी परमात्मा द्वारा निर्मित हैं।

(७) **सयंकतो च परंकतो च अत्ता च लोको च** - आत्मा और लोक स्वयंकृत भी हैं और परकृत भी।

(८) **असयंकारो अपरंकारो अधिच्चसमुप्पन्नो अत्ता च लोको च** - आत्मा और लोक न स्वयंकृत हैं, न परकृत बल्कि यों ही अकारण निर्मित हो गये हैं।

(९) **सस्सतं सुखदुक्खं अत्ता च लोको च** - सुख-दुःख, आत्मा और लोक शाश्वत हैं।

(१०) **असस्सतं सुखदुक्खं अत्ता च लोको च** - सुख-दुःख, आत्मा और लोक अशाश्वत हैं।

(११) **सस्सतञ्च असस्सतञ्च सुखदुक्खं अत्ता च लोको च** - सुख-दुःख, आत्मा और लोक शाश्वत भी हैं और अशाश्वत भी।

(१२) **नेव सस्सतं नासस्सतं सुखदुक्खं अत्ता च लोको च** - सुख-दुःख, आत्मा और लोक न शाश्वत हैं, न अशाश्वत।

(१३) **सयंकतं सुखदुक्खं अत्ता च लोको च** - सुख-दुःख, आत्मा और लोक स्वयंकृत हैं।

(१४) **परंकतं सुखदुक्खं अत्ता च लोको च** - सुख-दुःख, आत्मा और लोक परकृत हैं।

(१५) **सयंकतञ्च परंकतञ्च सुखदुक्खं अत्ता च लोको च** - सुख-दुःख, आत्मा और लोक स्वयंकृत भी हैं, परकृत भी।

(१६) **असयंकारं अपरंकारं अधिच्चसमुप्पन्नं सुखदुक्खं अत्ता च लोको च** - सुख-दुःख, आत्मा और लोक न स्वयंकृत हैं, न परकृत, बल्कि यों ही अकारण निर्मित हो गये हैं।

अपनी-अपनी दार्शनिक मान्यता की जकड़न में बुरी तरह जकड़े हुए थे सांप्रदायिक लोग –

**भण्डनजाता** – लड़ते-झगड़ते हुए,

**कलहजाता** – कलह करते हुए,

**विवादापन्ना** – विवाद में पड़े हुए,

**अञ्ञमञ्ञं** – एक दूसरे को

**मुखसत्तीहि वितुदन्ता विहरन्ति** – मुखरूपी बरछी से बींधते-छेदते रहते हैं।

उनमें से कोई कहता –

**एदिसो धम्मो, नेदिसो धम्मो** – धर्म ऐसा है, धर्म ऐसा नहीं है।

कोई कहता –

**नेदिसो धम्मो, एदिसो धम्मो** – धर्म ऐसा नहीं है, धर्म ऐसा है।

इस ओर इंगित करते हुए भगवान ने कहा कि ये –

**अञ्ञतित्थिया, भिक्खवे, परिब्बाजका अन्धा अचक्खुका** – जो संप्रदायवादी परिव्राजक हैं वे अंधे हैं, (प्रज्ञा) चक्षु विहीन हैं, अतः –

**अत्थं न जानन्ति अनत्थं न जानन्ति** – न अर्थ जानते हैं, न अनर्थ जानते हैं।

**धम्मं न जानन्ति अधम्मं न जानन्ति** – न धर्म जानते हैं, न अधर्म जानते हैं।

(उदा० ५५, दुतियनानातित्थियसुत्त)

यों अर्थ न जानते हुए, अनर्थ न जानते हुए, धर्म न जानते हुए, अधर्म न जानते हुए परस्पर लड़ते-झगड़ते रहते हैं।

यह अनुमान किया जा सकता है कि आज की भांति उन दिनों भी कोई संप्रदायवादी आचार्य किसी अन्य संप्रदायवादी आचार्य के सांप्रदायिक बाड़े में भेड़-बकरियों सदृश बँधे हुए अनुयायियों को अपने सांप्रदायिक बाड़े में खींच लाने का प्रयत्न करता होगा। इस कारण भी परस्पर तू-तू, मैं-मैं और लड़ाई-झगड़े होते होंगे।



## सच तो एक ही है

विभिन्न मान्यताओं से चिपके हुए संप्रदायवादी लोग अपनी-अपनी मान्यताओं को सच बताते हुए लड़ते थे। संप्रदाय अनेक थे, उनकी दार्शनिक मान्यताएं भी अनेक थीं, तो क्या सत्य भी अनेक हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान ने कहा –

**एकं हि सच्चं न दुतीयमत्थि, यस्मिं पजा नो विवदे पजानं।**

(सु० नि० ८९०, चूळब्यूहसुत्त)

– सत्य तो एक ही है, दूसरा नहीं है, जिसके बारे में लोग परस्पर विवाद करें।

और फिर कहा –

**न हेव सच्चानि बहूनि नाना, अञ्ञत्र सञ्ञाय निच्चानि लोके**

– संज्ञा को छोड़ कर संसार में नाना प्रकार के अन्य अनेक नित्य सत्य नहीं हैं।

जो अनित्य हैं, नश्वर हैं वे अनेक होते हैं। परंतु जो अविनाशी नित्य है वह एक ही है। नामरूप व ऐंद्रिय क्षेत्र की भिन्न-भिन्न अनुभूतियों और बुद्धिजन्य कल्पनाओं के आधार पर सच्चाइयां अनेक प्रतीत होती हैं। परंतु इंद्रियातीत परम सत्य की अनुभूति सब को एक जैसी होती है। उसमें विभिन्नता नहीं होती। अतः परम सत्य सदा एक ही होता है और नित्य शाश्वत ध्रुव होने के कारण सदा एक ही रहता है।

**तक्कञ्च दिट्ठीसु पकप्पयित्वा,**

– दार्शनिक मान्यताओं के बारे में प्रकल्पना करके और बौद्धिक तर्क-वितर्क करके (संप्रदायवादी) –

**सच्चं मुसाति द्वयधम्ममाहु** – सच और झूठ, यों दो धर्म बताते हैं।

(सु० नि० ८९२, चूळब्यूहसुत्त)

अपनी मान्यता को सत्य धर्म और दूसरे की मान्यता को असत्य धर्म।

ऐसे लोग ही भिन्न-भिन्न दार्शनिक मान्यताओं में उलझे होते हैं। ऐसा प्रत्येक व्यक्ति अपनी दार्शनिक मान्यता के प्रति गहरी आसक्ति पैदा कर लेता है और उसके लिए –

**दिट्ठीनिवेसा न हि स्वातिवत्ता,**

– दार्शनिक मान्यता की आसक्ति को त्यागना आसान नहीं होता। सचमुच दार्शनिक मान्यताओं का बंधन बहुत दृढ़ होता है।

**धम्मेसु निच्छेय्य समुग्गहीतं।** (सु० नि० ७९१, दुट्ठट्ठकसुत्त)

– क्योंकि उस मान्यता के धर्म को उसके द्वारा सोच-विचार कर, चिंतन-मनन करके ही ग्रहण किया गया होता है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने चिंतन-मनन पर पूर्ण विश्वास होता है और इसलिए उस पर आधारित दार्शनिक मान्यता के प्रति वह सदा आसक्त रहता है।

ऐसे लोग सदा परस्पर लड़ते-झगड़ते रहते हैं।

**दिट्ठिरागाभिनिवेसविनिबन्धपलिगेधपरियुट्ठानज्झ ओसानहेतु,**

– दार्शनिक मान्यता के प्रति रागमय अभिनिवेश, बंधन, चिपकाव (तथा उसकी) मूर्छा में पड़े रहने के कारण,

**खो, ब्राह्मण** – हे ब्राह्मण,

**समणापि समणेहि विवदन्ति।** (अ० नि० १.२.३८, समचित्तवग्ग)

– श्रमण भी श्रमणों के साथ विवाद करते हैं।

लड़ते हैं, झगड़ते हैं।

परंतु इन दार्शनिक मान्यताओं में उलझे हुए संप्रदायवादियों के सर्वथा विपरीत संपूर्ण सत्य को स्वानुभूतियों पर जान लेने वाला मुक्त ब्राह्मण महज चिंतन-मनन पर आधारित इन दार्शनिक मान्यताओं के जंजालों में नहीं पड़ता।

**न ब्राह्मणस्स परनेय्यमत्थि,**



– (वास्तविक सत्य के लिए) ब्राह्मण किसी दूसरे पर निर्भर नहीं रहता। किसी दूसरे के वचन को अंधविश्वास से नहीं मान लेता।

**धम्मेसु निच्छेय्य समुग्गहीतं।**

– न वह धर्म को केवल विचार-विमर्श या चिंतन-मनन द्वारा ग्रहण करता है।

क्योंकि उसने सत्य धर्म अपनी अनुभूति से जान लिया है।

**तस्मा विवादानि उपातिवत्तो** – इसलिए वह वाद-विवादों से दूर रहता है।

**न हि सेट्ठतो पस्सति धम्ममञ्ञं।** (सु० नि० ९१३, महाब्यूहसुत्त)

– (जिस परम सत्य को उसने स्वयं अनुभव कर लिया है) उससे श्रेष्ठ किसी अन्य (कल्पनाजन्य) धर्म को नहीं देखता।

अनित्यधर्मा शरीर और चित्त के, अनित्यधर्मा इंद्रियों और उनके विषयों के संपूर्ण क्षेत्र की भिन्न-भिन्न सच्चाइयों को स्वानुभूति द्वारा जान कर, इस अनित्यधर्मा क्षेत्र के प्रति तादात्म्य स्थापित न करते हुए, इसके प्रति पूर्णतया अनासक्त रहते हुए, इस क्षेत्र का अतिक्रमण कर इसके परे नित्य, शाश्वत, ध्रुव निर्वाण का स्वयं साक्षात्कार करना ही भगवान सिखाते थे। यह ऐसा परम सत्य है जिसमें भिन्नता नहीं होती, जो सबके लिए एक ही है, अनेक नहीं है। इस एकाकी परम अवस्था को जान लेने वाला क्या विवाद करेगा? क्यों विवाद करेगा? अनित्य क्षेत्र की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में आसक्त होकर उलझे हुए लोग ही परस्पर विवाद करते हैं, लड़ते-झगड़ते हैं। इस एकाकी परम सत्य को स्वानुभूति द्वारा जान लेने को ही भगवान महत्त्व देते थे और यही करना सिखाते थे क्योंकि स्वयं उन्होंने भी यही किया था।

## दंडपाणि शाक्य

एक दिन शाक्य दंडपाणि भगवान से मिलने आया। उसने भगवान से पूछा –

**किंवादी समणो किमक्खायि?**

– श्रमण, आप किस वाद वाले हैं? किस वाद को मानने वाले हैं? किस वाद को आख्यात करते हैं?

स्वयं परम मुक्त अवस्था तक न पहुँचा हुआ व्यक्ति जिस किसी वाद को ग्रहण करेगा उससे आसक्त होकर औरों के साथ विग्रह-विवाद करेगा। परंतु जो उस मुक्त अवस्था तक पहुँच गये हैं वे विग्रह-विवाद से स्वभावत: मुक्त हो गये हैं। इसी ओर संकेत करते हुए भगवान ने उत्तर दिया।

**यथावादी खो, आवुसो... न केनचि लोके विग्गय्ह तिट्ठति।**

जिस वाद को मानने वाला लोक में किसी से विग्रह नहीं करता, वैसे ही –

**यथा च पन कामेहि विसंयुत्तं विहरन्तं तं ब्राह्मणं**

– जैसे कि वह ब्राह्मण जो कामना से मुक्त हो कर विहार करता है,

**अकथङ्कथिं** – संदेह से मुक्त होकर,

**छिन्नकुक्कुच्चं** – पश्चाताप से मुक्त होकर,

**भवाभवे वीततण्हं** – भवतृष्णा और विभवतृष्णा से मुक्त होकर,

**सञ्ञा नानुसेन्ति** – संज्ञा-प्रपंच यानी बुद्धि-किलोल से मुक्त होकर विहार करता है,

**एवंवादी खो, अहं आवुसो, एवमक्खायीति।**

(म० नि० १.१९९, मधुपिण्डिकसुत्त)

– हे आयुष्मान! मैं ऐसे वाद वाला हूं। ऐसे (वाद को) आख्यात करता हूं।

**ऐसा व्यक्ति किसी संज्ञाजन्य (बुद्धिजन्य) दार्शनिकता का वाद स्थापित नहीं करता जो विग्रह-विवाद का कारण बने। अनुभूति के स्तर पर उपलब्ध उस नित्य शाश्वत परम सत्य का ही पक्षधर होता है, जहां कोई आसक्ति टिक नहीं सकती। अत: विवाद पनप नहीं सकता। प्रबल पुरुषार्थ द्वारा इस परम सत्य का साक्षात्कार कोई भी कर सकता है।**



## किसी एक ब्राह्मण का प्रश्न

एक दिन एक जिज्ञासु ब्राह्मण भगवान के पास आया। उसने भी भगवान से यही प्रश्न किया –

**किंवादी भवं गोतमो किमक्खायीति?**

– आप गौतम किस वाद वाले हैं? किस वाद को आख्यात करते हैं?

उन दिनों आस्तिकों को क्रियावादी और नास्तिकों को अक्रियावादी कहते थे।

उसके पूछने का यही मकसद था कि आप गौतम आस्तिक हैं या नास्तिक? क्रियावादी हैं या अक्रियावादी?

उन दिनों के इस बहुप्रचलित विवाद में न पड़ते हुए भगवान ने उत्तर दिया –

**किरियवादी चाहं, ब्राह्मण, अकिरियवादी च।**

(अ० नि० १.२.३५, समचित्तवग्ग)

– हे ब्राह्मण, मैं क्रियावादी भी हूं और अक्रियावादी भी।

और फिर इन विवादास्पद शब्दों की निर्विवाद धर्ममयी व्याख्या करते हुए समझाया –

हे ब्राह्मण, जो काया, वाणी और मन के सत्कर्म हैं, उन कुशल धर्मों के प्रति क्रियावादी हूं तथा जो काया, वाणी और मन के दुष्कर्म हैं, उन अकुशल धर्मों के प्रति अक्रियावादी हूं; और यही आख्यात करता हूं। झगड़ा बढ़ाने वाली निरर्थक दार्शनिक मान्यताओं से दूर इस शुद्ध धर्ममयी व्याख्या में विग्रह-विवाद के लिए स्थान कहां?

उन्होंने भव-संसरण के दु:ख को जाना, दु:ख के सही कारण को जाना और उसके निवारण और निवारण की विधि को जाना। इस विधि द्वारा स्वयं दु:ख-मुक्त हुए और लोगों को यही सिखाते रहे। इसमें विवाद के लिए कहां स्थान था?

सारे लौकिक सत्य का अन्वेषण करता हुआ जो व्यक्ति लोकोत्तर सत्य का साक्षात्कार कर लेता है, वह चित्त की सारी अशुद्धियों को धो लेता है। ऐसा शुद्ध-चित्त दुःखमुक्त व्यक्ति विवादास्पद दार्शनिक मान्यताओं में उलझे हुए लोगों से सर्वथा भिन्न होता है।

**धोनस्स हि नत्थि कुहिञ्चि लोके, पकप्पिता दिट्ठि भवाभवेसु।**

– ऐसे शुद्ध-चित्त व्यक्ति के लिए संसार में "अस्ति, नास्ति" से संबंधित कोई काल्पनिक, दार्शनिक मान्यता नहीं होती।

उसने लौकिक और लोकोत्तर क्षेत्र के संपूर्ण सत्य का वास्तविक दर्शन कर लिया है, जिसके परिणामस्वरूप–

**मायञ्च मानञ्च पहाय धोनो** – उस शुद्ध- चित्त व्यक्ति ने मान, माया का प्रहाण कर दिया है।

**स केन गच्छेय्य अनूपयो सो।**

– दार्शनिक मान्यताओं से अनासक्त हुआ वह व्यक्ति किसलिए विवाद करने जाय?

इसी कारण किसी अन्य प्रसंग में भगवान ने कहा–

"मैं किसी से विवाद करने नहीं जाता, लोग ही मुझसे विवाद करने आते हैं।"

मान्यताओं से आसक्त व्यक्ति ही झगड़े- फसाद में उलझते फिरते हैं। अतः कहा–

**उपयो हि धम्मेसु उपेति वादं** – जो दार्शनिक मान्यताओं पर आधारित धर्म के प्रति आसक्त है, वही वाद-विवाद के वितंडावाद में पड़ता है।

**अनूपयं केन कथं वदेय्य** – जो अनासक्त है, वह किसलिए विवाद में पड़ेगा?

**अत्ता निरत्ता न हि तस्स अत्थि** – उसके लिए न आत्मा है, न निरात्मा (नैरात्म)।

न अपना है, न पराया। न ग्रहणीय है, न अग्रहणीय।



**अधोसि सो दिट्ठिमिधेव सब्बन्ति।** (सु० नि० ७९२-७९३, दुट्ठट्ठकसुत्त)

– क्योंकि उसने सारी मान्यताओं को भू-लुंठित कर दिया है, त्याग दिया है।

जो मान्यताओं की आसक्ति में पड़े हैं, वही आत्मवाद और नैरात्म्यवाद के झगड़े में पड़े रहते हैं। उनके लिए ही कोई मान्यता मेरी है, कोई तेरी। और जो मेरी है वह सही है, ग्राह्य है और जो तेरी है वह गलत है, अग्राह्य है। उनका परस्पर यही विग्रह-विवाद चलता रहता है।

जो सचमुच भगवान हैं, वे सत्य-धर्म के प्रति भी न स्वयं आसक्त होते हैं, न किसी को आसक्त होने की शिक्षा देते हैं। उनके लिए तो शुद्ध सत्य-धर्म भी पार होने के लिए बेड़े के समान है। आसक्त होकर पकड़ रखने के लिए नहीं। वे अपने साधकों को यही सिखाते थे।

**अपि नु मे तुम्हे, भिक्खवे, कुल्लूपमं धम्मं देसितं आजानेय्याथ**

– बल्कि भिक्षुओ, मेरे उपदेशित धर्म को बेड़े के समान समझना।

**नित्थरणत्थाय, नो गहणत्थाय।** (म० नि० १.१८७, अलगद्दूपमसुत्त)

– जो पार उतरने के लिए है, पकड़ रखने के लिए नहीं।

जो समझदार होते हैं, वे धर्म का सही उपयोग करते हैं, लेकिन जो नासमझ हैं, वे भगवान द्वारा उपदेशित शुद्ध, स्वच्छ, नैसर्गिक धर्म को भी स्वानुभूति द्वारा भली प्रकार समझे बिना उसके प्रति आसक्ति पैदा कर लेते हैं। परंतु जो प्रकल्पित मान्यताओं पर आधारित, दूषित धर्म में ही उलझे हैं, उनकी आसक्ति का तो कहना ही क्या?

**पकप्पिता सङ्खता यस्स धम्मा** – जिसके धर्म प्रकल्पित और बुद्धिजन्य मान्यताओं पर आधारित हैं,

**पुरक्खता सन्ति अवीवदाता** – जो शुद्ध न होते हुए भी, उसके द्वारा पूजित, सम्मानित है,

**यदत्तनि पस्सति आनिसंसं** – जो अपने में अच्छे परिणाम देखता है,

**तं निस्सितो कुप्पपटिच्चसन्तिं।** (सु० नि० ७९०, दुट्ठट्ठकसुत्त)

– वह उसके प्रति आसक्ति रखते हुए उस पर आश्रित रहता है।

अतः प्रतीत्यसमुत्पाद के दुष्चक्र में, दुःखचक्र में उलझा रहता है।

ये सभी **पकप्पिता, सङ्खता धम्मा** यानी प्रकल्पित और कृत्रिम मान्यताएं अधिकांशतः 'मैं-मेरे' को लेकर ही होती हैं। 'मैं-मेरे' का काल्पनिक आरोपण नाम या रूप में से ही किसी पर किया जाता है, क्योंकि ऐसे लोग नाम और रूप के क्षेत्र में ही निमग्न रहते हैं। इससे परे की प्रत्यक्षानुभूति उन्होंने कभी की ही नहीं। अतः 'मैं-मेरे' संबंधी सारी कल्पनाएं और सारा बुद्धि-किलोल नाम-रूप के क्षेत्र तक ही सीमित रहता है। जो वस्तुतः न 'मैं' है, न 'मेरा' है, उस पर 'मैं-मेरे' का मिथ्या आरोपण करते रहते हैं।

**अनत्तनि अत्तमानिं, पस्स लोकं सदेवकं।**

– देवताओं सहित इस लोक को देखो, जहां कोई व्यक्ति अनात्मा में आत्मा का आरोपण कर रहा है।

अनात्मा में आत्मा की कल्पना कर रहा है।

**निविट्ठं नामरूपस्मिं** – नाम-रूप के क्षेत्र में ही स्थित हुआ (वह व्यक्ति)

**इदं सच्चन्ति मञ्ञति** – इस कल्पना को सत्य मानता है।

(सु० नि० ७६१, द्वयतानुपस्सनासुत्त)

और जो इस कल्पना को सच कहेगा, वह औरों की मान्यता को झूठ कहेगा ही।

**इदं सच्चं मोघमञ्ञं** – ऐसा व्यक्ति नाम यानी मन के चार स्कंध- विज्ञान, संज्ञा, वेदना और संस्कार में से किसी एक को या इन चारों के समुच्चय को अथवा पृथ्वी, अग्नि, जल और वायु – इन चार महाभूतों से बने भौतिक शरीर को अथवा नाम और रूप से संघटित समुच्चय को 'मैं' मानता है; 'मेरा' मानता है; 'मेरी आत्मा' मानता है।

**एतं मम** – यह 'मेरा' है,

**एसोहमस्मि** – यह 'मैं' हूं,

**एसो मे अत्ता** – यह मेरी 'आत्मा' है।



वह आत्मा की परिकल्पना इसीलिए करता है जिससे कि 'मैं-मेरे' का अस्तित्व पुष्ट हो। वह जब नाम-रूप के प्रति तादात्म्य स्थापित करता है, तब आंख, नाक, कान, जीभ, काया और मन से तथा उनके क्रियाकलापों से तादात्म्य स्थापित करता है। इस प्रकार शरीर और चित्त के क्षेत्र में ही उलझा रहता है, देहात्मबुद्धि या चित्तात्मबुद्धि में ही उलझा रहता है, अतः भवचक्र में ही उलझा रहता है।

भगवान इसीलिए 'भगवान' हैं, क्योंकि वे इनसे परे, नाम-रूपातीत, इंद्रियातीत परम सत्य का साक्षात्कार कर लेते हैं। पांचो स्कंधों में से और छहो इंद्रियों में से एक-एक को अलग-अलग करके देख लेते हैं। उनके अनित्य स्वभाव को **जानतो, पस्सतो** यानी अनुभूतियों के स्तर पर देख, समझ लेते हैं। भगवान **विभज्जवादी** हैं, अतः एक-एक का विभाजन, विघटन और विश्लेषण करके इन पांचो स्कंधों को देख लेते हैं। इन्हें निरर्थक, निस्सार, **विपरिणामधम्मा** अर्थात परिवर्तनशील जान कर ही स्वयं विमुक्त अवस्था तक पहुँचते हैं। इसी कारण इनमें से किसी के प्रति भी तादात्म्य भाव न रखते हुए, इनके प्रति सर्वथा अनासक्त रहते हुए, विमुक्त अवस्था प्राप्त करने की विपश्यना विधि लोगों को सिखाते हैं।

उन दिनों के अनेक संप्रदायवादी लोग भी ऐसे थे जो सैद्धांतिक तौर पर तो मानते थे कि ये पांचो स्कंध और छहो इंद्रियां न 'मैं' हैं, न 'मेरी आत्मा' हैं, क्योंकि ये अनित्य हैं और इस कारण दुःखद हैं। परंतु इसी सत्य को विपश्यना साधना द्वारा, यानी प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा न जान सकने के कारण व्यावहारिक स्तर पर इन्हीं के प्रति तादात्म्य भाव स्थापित कर उलझे रहते थे।

जो सत्य प्रत्यक्षानुभूति द्वारा ही जाना जा सकता है, उसे कोई महज तर्क-वितर्क द्वारा कैसे समझा सके और समझने वाला भी उसे कैसे समझ सके? भगवान इसी सत्य को विपश्यना साधना द्वारा **विवरियमाने** – विवरण-विश्लेषण करने, **विभजियमाने** – विघटन-विभाजन करने, **उत्तानिकरियमाने** – उघाड़ कर देख लेने की विपश्यना विधि सिखाना चाहते हैं, परंतु अपनी मान्यता में आसक्त रहने वाला व्यक्ति **न जानाति, न**

**पस्सति** – नहीं जानता है, क्योंकि विपश्यना द्वारा स्वयं नहीं देखता है। ऐसा प्रज्ञाचक्षु विहीन **अन्धं, अचक्खुकं** बिना आंख वाला अंधा, **अजानन्तं** बिन जाने, **अपस्सतं** बिन देखे अर्थात बिना अनुभव किये ही रह जाता है। तो अभागा ही होता है। अहंभाव में निमग्न रहता है। भगवान भी लाचार हैं। उसे उबारने के लिए वे कर ही क्या सकते हैं? **किन्ति करोमि** ?

## बाहिय

हम देखते हैं भगवान के पास **बाहिय** यानी बाहर के किसी संप्रदाय का कोई व्यक्ति आया है। वह भगवान से धर्म सीखना चाहता था। भगवान ने उससे पूछा –

**तं किं मञ्ञसि, बाहिय** – तुम क्या मानते हो, बाहिय?

चक्षु और रूप, कान और शब्द, नाक और गंध, जीभ और रस, शरीर और स्प्रष्टव्य पदार्थ, मन और धर्म तथा इनके संयोग से उत्पन्न चक्षु विज्ञान, श्रोतविज्ञान, घ्राण विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, काय विज्ञान और मनो-विज्ञान; और इनके स्पर्श से उत्पन्न सुखद-दुःखद और असुखद-अदुःखद संवेदनाओं का सारा क्षेत्र –

**निच्चं वा अनिच्चं वा** – नित्य है या अनित्य है?

तो बाहिय ने जवाब दिया –

**अनिच्चं, भन्ते** – अनित्य है, भंते!

समस्त ऐंद्रिय क्षेत्र की जो दुःखद संवेदनाएं हैं, वे तो स्पष्टतया दुःख हैं ही, परंतु जो सुखद हैं, अथवा असुखद-अदुःखद हैं, वे भी अनित्य और परिवर्तनशील स्वभाव वाली होने के कारण जब नष्ट होती हैं तब दुःख में ही बदलती हैं, दुःख का ही कारण बनती हैं। इसी सच्चाई के आधार पर भगवान ने आगे पूछा –

**यं पनानिच्चं, दुक्खं वा तं सुखं वा** – जो अनित्य है, वह दुःख है या सुख?



उत्तर मिला –

**दुक्खं, भन्ते** – दुःख है, भंते!

भगवान ने फिर पूछा –

**यं पनानिच्चं दुक्खं विपरिणामधम्मं** – जो अनित्य है, दुःख है और परिवर्तनशील है,

**कल्लं नु तं समनुपस्सितुं,**

– उसकी स्वयं अनुपश्यना कर लेने पर यानी इस तथ्य को स्वानुभूति पर उतार लेने पर क्या यह मानना ठीक होगा कि –

**एतं मम** – यह मेरा है?

**एसोहमस्मि** – यह 'मैं' हूं?

**एसो मे अत्ता** – यह मेरी आत्मा है?

तब किसी संप्रदायविशेष से आया हुआ यह बाहिय उत्तर देता है –

**नो हेतं, भन्ते** – नहीं, भंते!

बात इतनी स्पष्ट है कि भगवान का कोई शिष्य ही नहीं, बाहर का व्यक्ति भी इसे नकार नहीं सकता। लेकिन जब कोई व्यक्ति केवल बुद्धि के स्तर पर ही समस्त इंद्रिय जगत के अनित्य, दुःख, अनात्म स्वभाव को स्वीकार करके रह जाय, तो इस सच्चाई का उसे लाभ नहीं मिलता। परंतु वस्तुतः समनुपश्यना करके अर्थात सम्यक रूप से स्वयं विपश्यना करके इसे अनुभूति पर उतार लेता है तो वह इस ऐंद्रिय जगत और उससे संबंधित सुखद-दुःखद अथवा असुखद-अदुःखद संवेदनाओं के प्रति –

**निब्बिन्दति** – निर्वेद को प्राप्त होता है।

**निब्बिन्दं विरज्जति** – निर्वेद को प्राप्त हुआ वीतरागता को प्राप्त हो जाता है।

**विरागा विमुच्चति** – वीतराग हुआ विमुक्त हो जाता है।

**विमुत्तस्मिं विमुत्तमिति ञाणं होति** – विमुक्त हो जाता है तो यह विमुक्ति है, इसका (प्रत्यक्ष) ज्ञान हो जाता है।

**खीणा जाति** – जाति क्षीण हुई यानी पुनर्जन्म समाप्त हुआ,

**वुसितं ब्रह्मचरियं** – जिस उद्देश्य के लिए यह धर्माचरण का जीवन अपनाया था, वह पूरा हुआ।

**कतं करणीयं** – कृत-कृत्य हुआ यानी भव-मुक्ति के लिए जो करना था, सो कर लिया।

**नापरं इत्थत्तायाति** – इस स्थिति के परे और कुछ नहीं है यानी न कुछ करणीय है और न ही इसके आगे भवसंसरण है।

**पजानाति** – इस सच्चाई को प्रज्ञापूर्वक जान लेता है यानी प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा जान लेता है।

यह किसी संप्रदाय की कोरी दार्शनिक मान्यता नहीं होती।

बाहिय सही माने में मुमुक्षु था। वह भगवान के पास बुद्धि-विलास के लिए नहीं आया था। जैसे भगवान ने बताया, वैसे ही समनुपश्यना करते हुए वह अंतिम अवस्था तक जा पहुँचा।

**अञ्ञतरो च पनायस्मा बाहियो अरहतं अहोसि** – आयुष्मान बाहिय अरहंतों में से एक हुआ।

(सं० नि० २.४.८९, बाहियसुत्त)

## यथाभूत ज्ञान-दर्शन

नितांत विमुक्त अवस्था की उपलब्धि कोरी दिमागी कसरत से नहीं होती। **जानतो, पस्सतो** अर्थात अनुभूति द्वारा जानते हुए ही उपलब्ध होती है। परंतु यह **जानतो, पस्सतो** भी यथाभूत ज्ञान दर्शन न हो, तो व्यक्ति किसी मान्यता में ही उलझ कर रह जाता है।

उन दिनों के कुछ एक संप्रदाय ऐसा दावा करने वाले भी थे कि हम **जानतो, पस्सतो** अर्थात अनुभव द्वारा आत्म-शुद्धि हुई मानते हैं।

**जानामि पस्सामि तथेव एतं, दिट्ठिया एके पच्चेन्ति सुद्धिं।**



– मैं इसे देखता हूं, जानता हूं – ऐसा कहते हुए कुछ लोग (किसी एक दार्शनिक मान्यता में उलझ कर) उस मान्यता से शुद्धि अर्थात मुक्ति बताते हैं।

**अद्दक्खि चे किञ्हि तुमस्स तेन** – यदि उसने देखा भी तो क्या देखा? उसे क्या लाभ हुआ?

जो गलत तरीके से देखने के कारण मुक्ति के मार्ग से परे भटक गये –

**अतिसित्वा अञ्ञेन वदन्ति सुद्धिं।**

– वे यथार्थ को छोड़ कर किसी अन्य (कल्पित) विधि से ही मुक्ति बताते हैं।

अनित्य क्षेत्र के यथार्थ पर किसी काल्पनिक मान्यता का मुलम्मा चढ़ा कर देखते हैं तो यथार्थ को नहीं, कल्पना को ही देखते हैं।

जब वे कहते हैं कि हम भी देखते हैं, तो वस्तुतः वे क्या देखते हैं? क्या अनुभव करते हैं?

**पस्सं नरो दक्खति नामरूपं** – (यों) देखने वाला व्यक्ति नाम-रूप को देखता है।

यानी इसी अनित्य क्षेत्र में विचरण करता है। इसके परे वास्तविक नित्य अवस्था की सच्चाई नहीं देख पाता।

**दिस्वान वा ञस्सति तानिमेव** – उसी को देख कर उसे ज्ञान मान लेता है। नाम-रूप ही उसके लिए ज्ञान-दर्शन हो जाते हैं।

**कामं बहुं पस्सतु अप्पकं वा** – वह थोड़ा देखे या बहुत, पर देखता है काम को ही, कामलोक के क्षेत्र को ही।

नाम-रूप के सारे क्षेत्र को वह अपनी कामनाओं के रंगीन चश्मे से देखता है। उन्हें यथाभूत नहीं देखता, उनके अनित्य, दुःख, अनात्म स्वभाव को नहीं देख पाता। वह यथा-वांछित देखता है, यथा-आरोपित देखता है, यथा- कल्पित देखता है, यथा-कृत देखता है। अतः उसे यथाभूत

ज्ञान-दर्शन नहीं होता। जो थोड़ी बहुत अनुभूति होती भी है उसे वह अपनी दार्शनिक मान्यता के रंग से रंग कर देखता है।

**न हि तेन सुद्धिं कुसला वदन्ति** - कुशल साधे हुए लोग इससे शुद्धि यानी मुक्ति नहीं बताते। (सु० नि० ९१४-९१५, महाब्यूहसुत्त)

"मैं - मेरा और मेरी आत्मा" की दार्शनिक मान्यता में उलझा हुआ व्यक्ति वस्तुतः नाम-रूप के क्षेत्र का ही अनुभव करता है। उसका भी यथाभूत यथास्वभाव अनुभव नहीं कर पाता। इसलिए -

उसमें "मेरी आत्मा" मानता है,

उसे "मैं - मेरी आत्मा" मानता है,

उस सदृश "मेरी आत्मा" मानता है।

उसको "मेरा" मानता है।

उस ऐंद्रिय क्षेत्र के प्रति तादात्म्य स्थापित करता हुआ ऐसा व्यक्ति अस्मिता-भाव की गहन आसक्ति से बँध कर भवचक्र में ही पिसता रहता है, दुखों से बाहर नहीं निकल पाता। परंतु जो यथाभूत ज्ञान-दर्शन करता है, वह भगवान की भांति सारी मान्यताओं से ऊपर उठ जाता है। भगवान ने अपने अनुभवों को व्यक्त करते हुए कहा -

**दिट्ठं हेतं, वच्छ, तथागतेन**

- हे वत्स, तथागत द्वारा यह देख लिया गया, अनुभव कर लिया गया कि -

**इति रूपं** - ऐसा भौतिक रूप यानी शरीर है।

**इति रूपस्स समुदयो** - ऐसा रूप का समुदय है।

**इति रूपस्स अत्थङ्गमो** - ऐसा रूप का अस्तगमन है अर्थात निरोध है।

जैसे रूप यानी भौतिक शरीर के उत्पाद और निरोध का अनुभव कर लिया गया, वैसे ही नाम यानी वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान का भी समुदय और अस्तगमन का अनुभव कर लिया गया। इस प्रकार रूप और नाम का भली प्रकार विभाजन, विश्लेषण करके उनके सही अनित्य स्वभाव



का दर्शन कर लेने से उनमें से किसी के प्रति भी 'मैं - मेरा या मेरी आत्मा' के होने का कोई भ्रम नहीं रह जाता। यह महज मानने की बात नहीं रह जाती, सच्चाई जान ली जाती है, वह अनुभूति पर उतार ली जाती है। उन्हें देहात्मबुद्धि और चित्तात्मबुद्धि से सर्वथा मुक्ति मिल जाती है। तभी भगवान कहते हैं -

**तस्मा तथागतो** - इस कारण तथागत

**सब्बमञ्जितानं** - सभी दार्शनिक मान्यताओं के,

**सब्बमथितानं** - सभी बौद्धिक मंथनों के,

**सब्बअहङ्कारममङ्कारमानानुसयानं** - सभी अहंकार, ममंकार और 'मैं' संबंधी अनुशय यानी अंतःशायी संस्कारों के,

**खया विरागा निरोधा चागा पटिनिस्सग्गा अनुपादा**

- क्षय, विराग, निरोध, त्याग, प्रतिनिसर्ग और उनके पुनः उत्पन्न न हो सकने के कारण

**विमुत्तोति** - (उन सब से) विमुक्त हैं। (म० नि० २.१८९, अग्गिवच्छसुत्त)

चिंतन-मनन, विचार-विमर्श, ऊहापोह, तर्क-वितर्क, वाद-विवाद, बहस-मुबाहसा या अन्य किसी बौद्धिक क्रिया-कलाप से यह अवस्था प्राप्त नहीं होती। यह अनुभूति का क्षेत्र है। सच्चाई अनुभूति पर उतरने से सारे भ्रम दूर हो जाते हैं, सारी थोथी काल्पनिक मान्यताएं स्वतः नष्ट हो जाती हैं। 'अहं', 'मम' का अज्ञान आसानी से मिट जाता है। तभी कोई व्यक्ति यथार्थतः मुक्त होता है।

जब इस भौतिक शरीर और उसके पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु के गुण-धर्म-स्वभाव को अनुभूतियों के स्तर पर देख-जान लेता है कि यह नित्य, शाश्वत, ध्रुव नहीं है, उत्पाद होकर व्यय हो जाना ही इनका स्वभाव है; इसी प्रकार चारो चित्त स्कंधों को अलग- अलग करके उनके अनित्य स्वभाव को अनुभूति के स्तर पर देख-जान लेता है, तो उसके लिए वास्तविकता अत्यंत स्पष्ट हो जाती है। भौतिक और चैतसिक जगत के प्रति जो मिथ्या भाव संचित कर रखा था कि यह -

**अहन्ति वा ममन्ति वा अस्मीति वा** – मैं अथवा मेरा अथवा मेरा अस्मिताभाव है।

उसे जब अनुभव द्वारा देखता है तब पाता है कि

**अथ ख्वास्स नोतेवेत्थ होति** – वह उसका नहीं है।

(म० नि० १.३०२, महाहत्थिपदोपमसुत्त)

नाम और रूप के अनित्य, दुःख, अनात्म लक्षण की यह सच्चाई अपने गुरु के वचन के कारण नहीं स्वीकारी जाती, किसी परंपरागत मान्यता के आधार पर नहीं स्वीकारी जाती, किन्हीं ग्रंथों के आधार पर नहीं स्वीकारी जाती और न ही कोरे तर्क-वितर्क के आधार पर स्वीकारी जाती है। अन्यथा यह भी अन्य दार्शनिक मान्यताओं की भांति एक और दार्शनिक मान्यता बन कर रह जाती। यह सच्चाई अनुभूतियों के आधार पर स्वीकारी जाती है। साधक स्वयं देखता है कि चाहे नाम यानी चित्त का कोई एक स्कंध हो, चाहे पृथ्वी, अग्नि आदि कोई भौतिक धातु हो, चाहे आंख, कान आदि कोई इंद्रिय हो, –

**यं हि, भिक्खवे, मञ्ञति** – भिक्षुओ, जिसे मैं, मेरा, आत्मा मानता है,

**यस्मिं मञ्ञति** – जिसमें मैं, मेरा, आत्मा मानता है,

**यतो मञ्ञति** – जब से मैं, मेरा, आत्मा मानता है,

**यं मेति मञ्ञति** – जिसको "मेरा है" मानता है,

विपश्यना साधना द्वारा देखता है कि –

**ततो तं होति अञ्ञथा** – वह परिवर्तित हो जाता है।

तब यह भी उसकी समझ में आ जाता है कि

**अञ्ञथाभावी भवसत्तो लोको भवमेव अभिनन्दति।**

(सं० नि० २.४.९१, दुतियएजासुत्त)

– इस परिवर्तनशील भव के प्रति आसक्त हुआ व्यक्ति भव का ही अभिनंदन करता है।

इस कारण उस भवतृष्णा से बँधा रहता है जो कि –



**पोनोब्भविका** – पुनर्जन्म कराने वाली है,

**नन्दिरागसहगता** – नंदी और राग से जुड़ी हुई है,

**तत्रतत्राभिनन्दिनी** – कभी यहां और कभी वहां किसी न किसी भव का ही अभिनंदन करने वाली होती है। (सं० नि० ३.५.१०८१, धम्मचक्कप्पवत्तनसुत्त)

भव का अभिनंदन करने वाला व्यक्ति भवचक्र से छूट नहीं पाता और जन्म-जन्मांतरों तक जाति-जरा-व्याधि-मरण के दुखों से पीड़ित होता रहता है।

गंभीर विपश्यी साधक इस तथ्य को भली- भांति समझते हुए इन भंगुर नाम-रूप तथा इंद्रियों के प्रति 'मैं-मेरी' और 'मेरी आत्मा' की मिथ्या मान्यता को त्यागता है।

**सो एवं अमञ्ञमानो न किञ्चि लोके उपादियति।**

– इस प्रकार इन मान्यताओं को न मानने वाला लोक में यानी भव में किंचित भी उपादान अर्थात आसक्ति नहीं रखता।

**अनुपादियं न परितस्सति** – उपादान न होने से परित्रास को प्राप्त नहीं होता, संतापित नहीं होता।

**अपरितस्सं पच्चत्तञ्ञेव परिनिब्बायति।** (सं० नि० २.४.९१, दुतियएजासुत्त)

– परित्रस्त न होने से अपने भीतर परिनिर्वाण प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार जीवन्मुक्त अवस्था का स्वयं साक्षात्कार कर लेता है। यह तभी संभव होता है जबकि साधक अपने भीतर समस्त लौकिक क्षेत्र से संबंधित इस सच्चाई को जान लेता है कि –

**नेतं मम** – यह मेरा नहीं है,

**नेसोहमस्मि** – यह मैं नहीं हूं,

**न मेसो अत्ता** – न यह मेरी आत्मा है।

इसे स्वयं जान लेने के लिए ही भगवान कहते हैं –

**एवमेतं यथाभूतं सम्मप्पञ्ञाय दट्ठब्बं।** (म० नि० १.३०२, महाहत्थिपदोपमसुत्त)

– इसे सम्यक प्रज्ञा द्वारा इसी प्रकार यथाभूत देखना चाहिए।

बिना सम्यक प्रज्ञा के यानी बिना गंभीर विपश्यना साधना किये कोई इस सच्चाई को हृदयंगम नहीं कर पाता।

**पञ्ञाय परिहानेन** – प्रज्ञा खो देने पर,

**निविट्ठं नामरूपस्मिं** – नामरूप में ही धँसा रह जाता है।

नाम-रूप के क्षेत्र की ही किसी अवस्था को –

**एतं मम, एसोहमस्मि, एसो मे अत्ता** – यह मेरा है, यह मैं हूं, यह मेरी आत्मा है;

यही मानता रह जाता है। इस मान्यता के बाहर नहीं निकल पाता। बाहर नहीं निकल पाता इसीलिए अनित्य-धर्मा नाम-रूप के परे नित्य, शाश्वत, ध्रुव-धर्मा निर्वाण से वंचित रह जाता है। जन्म-मरण के भवचक्र की मुक्ति से वंचित रह जाता है। प्रज्ञा द्वारा नाम-रूप के क्षेत्र को यथाभूत देखता है तो मुक्त हो जाता है। तभी कहा –

**पञ्ञा हि सेट्ठा लोकस्मिं** – संसार में प्रज्ञा ही श्रेष्ठ है।

**यायं निब्बेधगामिनी** – यही मोह का भेदन कर मुक्त अवस्था तक ले जाने वाली है।

**याय सम्मा पजानाति, जातिभवपरिक्खयं।** (इतिवु० ४१, पञ्ञापरिहीनसुत्त)

– जन्म-मरण के भवचक्र को क्षय करने की विधि को यही सम्यक प्रकार से जानती है।

इसी के सहारे नितांत विमुक्त अवस्था का साक्षात्कार होता है।

प्रज्ञा के सहारे भवमुक्ति पर चलने का सारा मार्ग सत्य के यथाभूत यथास्वभाव ज्ञान-दर्शन का मार्ग है। काल्पनिक मान्यताएं इस मुक्ति के मार्ग में बाधक बनती हैं। मुक्त अवस्था तक पहुँचने के लिए यह अनिवार्य है कि हर कदम सत्य और वह भी अनुभूत सत्य की ठोस धरती पर उठे। साधक कहीं कल्पनाकाश में नहीं उड़ने लगे। तभी कहा गया –

**सच्चा अवोक्कम्म मुनि, थले तिट्ठति ब्राह्मणो।**



– सत्य से विमुख न होता हुआ ब्राह्मण मुनि मुक्ति के स्थल पर स्थित होता है।

**सब्बसो नामरूपस्मिं, यस्स नत्थि ममायितं।**

– वह नाम-रूप के सभी स्कंधों के प्रति सब प्रकार से अनासक्त रहता है।

साथ-ही-साथ काल्पनिक मान्यताओं से दूर रहता है और

**असता च न सोचति,**

– जिसका अस्तित्व ही नहीं है, उस (काल्पनिक मान्यता) का चिंतन-मनन नहीं करता।

केवल यथाभूत, स्वानुभूत सत्य के सहारे-सहारे आगे बढ़ता है,

**स वे लोके न जीयति** – वह संसार में जीर्ण नहीं होता।

(सु० नि० ९५२,९५६, अत्तदण्डसुत्त)

सर्वथा जन्म-मुक्त हो जाता है, भवमुक्त हो जाता है।

मुक्त अवस्था तक वही पहुँच पाता है, जो स्वयं अनुभूत सत्य के सहारे चलता है तथा –

**परवेदियं दिट्ठिमुपातिवत्तो।** (सु० नि० ४७८, सुन्दरिकभारद्वाजसुत्त)

– दूसरों की अनुभूतियों पर स्थापित दार्शनिक मान्यताओं से दूर रहता है।

**मञ्ञमानो खो, भिक्खवे, बद्धो मारस्स।**

– हे भिक्षुओ, इन दार्शनिक मान्यताओं को मानने वाला मार के पाश में बँधा रहता है।

**अमञ्ञमानो मुत्तो पापिमतो।** (सं० नि० २.४.२४८, यवकलापिसुत्त)

– जो इन मान्यताओं को मानने वाला नहीं है, वह उस पापी के बंधन से मुक्त है।

कल्पनाओं को छोड़ कर, यथार्थ का सहारा लिए हुए साधक जब प्रज्ञामयी विपश्यना करता है, तब देखता है–

**येन येन हि मञ्ञन्ति** – (अनित्य-धर्मा नाम-रूप पर आधारित) जिस-जिस (आलंबन) को लेकर कोई (नित्य-धर्मा) दार्शनिक मान्यता मानी जाती है–

**ततो तं होति अञ्ञथा** – वह आलंबन ही बदल जाता है, नष्ट हो जाता है।

**तञ्हि तस्स मुसा होति** – तो वह मान्यता ही झूठी साबित हो जाती है।

**मोसधम्मञ्हि इत्तरं** – (अनित्य के आलंबन पर स्थापित) ये सभी मान्यताएं असत्य-धर्मा ही हैं।

**अमोसधम्मं निब्बानं** – नाम-रूप से परे केवल निर्वाण ही सत्य-धर्म है, क्योंकि वह अविनाशी है।

**तदरिया सच्चतो विदू** – जो लोग आर्य हो गये यानी जो निर्वाण-दर्शी हैं, वे इसकी सत्यता को जान गये हैं।

**ते वे सच्चाभिसमया** – वे सत्य को जान लेने वाले

**निच्छाता परिनिब्बुता** – तृष्णारहित होकर मुक्त हो गये हैं।

(सु० नि० ७६२-७६३, द्वयतानुपस्सनासुत्त)

नाम-रूप के समस्त क्षेत्र की अनित्यता और उसके परे निर्वाण की नित्य-ध्रुवता का साक्षी साधक इन कल्पनाजन्य या बुद्धिजन्य मिथ्या दार्शनिक मान्यताओं को कैसे मानेगा?

**अयं, भिक्खवे, भिक्खु** – हे भिक्षुओ, ऐसा भिक्षु

**न किञ्चि मञ्ञति** – न कुछ मान्यता मानता है,

**न कुहिञ्चि मञ्ञति** – न कहीं (किसी नश्वर आलंबन में) दार्शनिक मान्यता मानता है,

**न केनचि मञ्ञति** – न किसी के साथ (नाम-रूप के किसी भी स्कंध के साथ) कोई दार्शनिक मान्यता मानता है। (म० नि० ३.१०८, सप्पुरिससुत्त)



ऐसे व्यक्ति के लिए अहंभाव, आत्मभाव की सारी दार्शनिक मान्यताएं स्वतः समाप्त हो जाती हैं।

**यं दिट्ठिसम्पन्नो पुग्गलो** – ऐसा सत्य- दर्शन संपन्न व्यक्ति

**कञ्चि धम्मं अत्ततो उपगच्छेय्य** – किसी अवस्था को आत्मा मान कर ग्रहण कर ले,

**नेतं ठानं विज्जति** – यह असंभव है।

(अ० नि० १.१.२७०, अट्ठानपाळि, पठमवग्ग)

इसकी कोई संभावना नहीं है।

**सब्बमञ्ञितानंत्वेव, भिक्खु, समतिक्कमा मुनि 'सन्तो'ति वुच्चति** – यों सारी दार्शनिक मान्यताओं का अतिक्रमण कर लेने वाला मुनि संत कहलाता है।

**मुनि खो पन, भिक्खु, सन्तो** – हे भिक्षु, ऐसा संत हुआ मुनि (भविष्य में)

**न जायति** – न (पुनः) जन्म लेता है,

**न जीयति** – न (पुनः) जीर्ण होता है,

**न मीयति** – न (पुनः) मरता है।

उसका यह जन्म अंतिम जन्म होता है। इस जीवन की जीर्णता, अंतिम जीर्णता और इस जीवन की मृत्यु, अंतिम मृत्यु होती है।

ऐसा व्यक्ति इस जीवन में भी–

**न कुप्पति** – न (अनचाही पर) कोप करता है,

**न पिहेति** – न (मनचाही की) स्पृहा करता है।

(म० नि० ३.३६९, धातुविभङ्गसुत्त)

भगवान ने लौकिक क्षेत्र के अनित्य, दुःख, अनात्म लक्षण की भी कोई दार्शनिक मान्यता स्थापित नहीं की। उन्होंने इस सच्चाई को स्वयं अनुभव करके देखा और लोगों को विपश्यना साधना द्वारा इसी का दर्शन करना

सिखाया। बुद्धवचन है इसलिए इसे अंधविश्वास से मान लेना नहीं सिखाया। जब सच्चाई अनुभूति पर उतर जाती है तब वह कोई दार्शनिक मान्यता नहीं रहती, अनुभूतिजन्य सम्यक दर्शन और सम्यक ज्ञान बन जाती है तथा परिणामतः सम्यक विमुक्ति बन जाती है।

साधक जैसे-जैसे इस यथाभूत मार्ग पर आगे बढ़ता है, शरीर और चित्त का यथार्थ अनुभव करता है, उसका आत्मभाव, अहंभाव पिघलता है, अनात्मभाव पुष्ट होता जाता है। तब वह स्पष्टतया समझने लगता है कि-

**अहङ्कारा च मे उपरुज्झिस्सन्ति** - मेरा अहंकार उखड़ जाएगा, इसका विनाश हो जाएगा।

**ममङ्कारा च मे उपरुज्झिस्सन्ति** - मेरा ममंकार उखड़ जाएगा, इसका विनाश हो जाएगा। (अ० नि० २.६.१०४, अतम्मयसुत्त)

अहंकार और ममंकार उखड़े बिना मुक्त अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। 'मैं' के नित्य होने की कल्पना और जल्पना अहंकार और ममंकार को पुष्ट करती है। अपने भीतर एक स्थायी आत्मा की परिकल्पना इस 'मैं' को, इस 'आत्मभाव, अहंभाव' को संपुष्ट करती है। लेकिन इसके विपरीत यदि अनात्मभाव भी एक दार्शनिक मान्यता ही बन कर रह जाय तो अहंकार, ममंकार जड़ से नहीं उखड़ पाता। अपने भीतर यथार्थ दर्शन की साधना करते हुए शरीर के प्रति अनात्मबोध जाग जाना सरल है, कुछ अंशों तक चित्त के प्रति भी अनात्मभाव जाग जाना आसान है। परंतु चित्त के चार स्कंधों में से विज्ञान स्कंध के प्रति अनुभूतिजन्य अनात्मभाव जागने में देर लगती है। चूंकि इसके प्रति अनित्य-भाव जागने में देर लगती है, अतः साधक को तब तक स्मृति-संप्रज्ञानमयी विपश्यना में लगे रहना होता है, जब तक कि विज्ञान भी निरुद्ध न हो जाय।

स्वानुभूति द्वारा साधक देखता है कि विज्ञान एक ही नहीं, छः होते हैं- आंख, कान, नाक, जीभ, काय और मन के अलग- अलग विज्ञान। चौथे ध्यान की अवस्था में प्रथम पांच विज्ञान निरुद्ध हो जाते हैं। पांचवें से आठवें ध्यान तक केवल मन का विज्ञान कायम रहता है। तब साधक इस भ्रम में पड़ता है कि यही नित्य, शाश्वत, ध्रुव है और यही 'मैं' हूं। इसी से



विज्ञान को आत्मा मान लेता है और आत्मा को विज्ञान मान लेता है। इस अवस्था तक पहुँचा हुआ साधक मरने पर किसी अरूप ब्रह्मलोक में यानी भवाग्र लोक में जन्मता है और वहां अनेक कल्पों तक सुखद जीवन जी कर पुनः भव-भ्रमण करता है क्योंकि उसने अभी तक भवातीत, लोकातीत निर्वाण का साक्षात्कार नहीं किया होता। अतः उसके अंतःशायी भव-संस्कार कायम रहते हैं, जो पुनर्जन्म के कारण बनते हैं। परंतु जब **संज्ञा-वेदयित-निरोध** नामक नवें ध्यान का अभ्यास करता है तब यह मन का विज्ञान भी निरुद्ध हो जाता है। चौथे ध्यान तक रूप का निरोध होता है, परंतु नाम कायम रहता है। जब नवें ध्यान में नाम का भी निरोध हो जाता है, तभी सही माने में विज्ञान का निरोध होता है। यही अरहंत की निर्वाणिक अवस्था है। इसी के लिए कहा गया-

**यत्थ नामञ्च रूपञ्च, असेसं उपरुज्झति।**

- नाम और रूप दोनों का जहां निःशेष अंत होता है,

**विञ्ञाणस्स निरोधेन, एत्थेतं उपरुज्झति।**

(सु० नि० १०४३, अजितमाणवपुच्छा)

- जहां विज्ञान का निःशेष अंत हो जाता है।

यह प्रतिसंधि विज्ञान है जिसका निरोध हो जाने पर पुनर्जन्म नहीं होता। नये जन्म का नाम-रूप नहीं बन पाता। तभी कहा गया-

**विञ्ञाणनिरोधा नामरूपनिरोधो।** (उदा० २, दुतियबोधिसुत्त)

- विज्ञान के निरोध होने से नाम-रूप का निरोध होता है।

जब नया जन्म देने वाला प्रतिसंधि विज्ञान ही नहीं रहा तो नये सिरे से नाम-रूप का उत्पाद कैसे हो? अपने भीतर इस इंद्रियातीत नित्य, शाश्वत, ध्रुव निर्वाणिक अवस्था की उपशांति का स्वानुभव हो जाने पर बुद्धिजन्य मान्यताएं कहां टिक पाएंगी? यह बुद्धि के क्षेत्र के परे की अवस्था है।

**अज्झत्तं उपसन्तस्स, नत्थि अत्ता कुतो निरत्ता वा।**

(सु० नि० ९२५, तुवटकसुत्त)

– जिसे आंतरिक उपशांति प्राप्त हो गयी, (उसका आत्मभाव समाप्त हो गया), उसके लिए आत्मभाव नहीं रहा, तो नैरात्म्यभाव भी कहां होगा? उसके लिए न 'अहं' है, न 'परं' है। न कुछ अपना है, न पराया है। न कुछ पकड़ने के लिए है, न छोड़ने के लिए है।

विपश्यना साधना द्वारा इस लोकातीत अवस्था पर पहुँच कर ही साधक स्वानुभूति से समझ लेता है कि समस्त लौकिक क्षेत्र में न आत्मा है, न आत्मीय, न 'मैं' है, न 'मेरा'। अतः यह सारा लौकिक क्षेत्र निस्सार है। विपश्यना रूपात्मबुद्धि की यानी देहात्मबुद्धि की तथा नामात्मबुद्धि की यानी चित्तात्मबुद्धि की भ्रांतियों से विमुक्त हो सकने की अचूक विद्या है।

## शून्य

एक बार आनंद ने भगवान से पूछा –

**'सुञ्ञो लोको, सुञ्ञो लोको'ति, भन्ते, वुच्चति** – भंते, शून्यलोक, शून्यलोक कहा जाता है,

**कित्तावता नु खो, भन्ते, 'सुञ्ञो लोको'ति वुच्चति।**

– भंते, किस कारण से लोक को शून्य कहा जाता है?

इस पर भगवान ने उत्तर दिया –

**यस्मा च खो, आनन्द, सुञ्ञं अत्तेन वा अत्तनियेन वा, तस्मा 'सुञ्ञो लोको'ति वुच्चति।**

(सं० नि० २.४.८५, सुञ्ञतलोकसुत्त)

– हे आनंद, क्योंकि समस्त लोक आत्म और आत्मीय से यानी 'मैं', और 'मेरे' से शून्य हैं, इसलिए शून्य कहा जाता है।

और फिर कहा –

क्योंकि छहो इंद्रिय और इनके विषय तथा इनसे संबंधित जो कुछ है, वह सब आत्म और आत्मीय से शून्य है, इसलिए भी लोक शून्य कहा जाता है।



नाम और रूप का सारा क्षेत्र जो आत्म और आत्मीय से शून्य है, लोक कहलाता है। अतः शून्य कहलाता है।

अगर अनुभूति पर नहीं उतारी जाय तो यह सच्चाई भी महज एक दार्शनिक मान्यता बन कर रह जाती है। परंतु जब अनुभूति पर उतरती है तो मुक्तिदायिनी बन जाती है। यों मुक्त हुआ व्यक्ति इस सच्चाई को अनुभूतियों के बल पर कहता है –

**सुद्धसङ्खारपुञ्जोयं, नयिध सत्तुपलब्भति।**

– यह केवल संस्कारों का पुंजमात्र है। यहां कोई प्राणी नहीं है।

**यथा हि अङ्गसम्भारा, होति सद्दो रथो इति।**

– जैसे अवयवों को जोड़ देने से 'रथ' नामक शब्द बन जाता है,

**एवं खन्धेसु सन्तेसु, होति सत्तोति सम्मुति।**

– इसी प्रकार (नाम रूप के पांचों) स्कंधों के जुड़ जाने से व्यवहार के लिए 'प्राणी' शब्द का प्रयोग होता है।

**दुक्खमेव हि सम्भोति, दुक्खं तिट्ठति वेति च।**

– केवल दुःख ही उत्पन्न होता है, टिकता है और नष्ट हो जाता है।

**नाञ्ञत्र दुक्खा सम्भोति, नाञ्ञं दुक्खा निरुज्झति।**

(सं० नि० १.१.१७१, वजिरासुत्त)

– दुःख के अतिरिक्त अन्य कोई पैदा नहीं होता, न ही दुःख के अतिरिक्त किसी अन्य का निरोध होता है।

यह और इस जैसे अन्य कथन बिना अनुभूति के कैसे समझ में आयेंगे भला? इसीलिए भगवान की शिक्षा का सारा बल अनुभूति पर है, क्योंकि वास्तविक कल्याण इसी में है। अन्यथा शून्यवाद के विवाद को लेकर सिवाय झगड़ने के और क्या मिलेगा? जो अनुभव से जान जाता है, वह सहज ही अनासक्त होकर मुक्त हो जाता है। इसीलिए कहा गया –

**अत्तं पहाय अनुपादियानो,**

– (स्वानुभूति पर आश्रित हो) आत्मा की मान्यता को त्याग, अहंभाव को त्याग कर जो अनासक्त हो गया है, वह –

**ञाणेपि सो निस्सयं नो करोति** – (बुद्धिजन्य) ज्ञान पर आश्रित नहीं रहता।

**तस्सीध दिट्ठे व सुते मुते वा** – उसे यहां यानी इस संसार में देखने, सुनने अथवा अन्य ऐंद्रिय क्रिया-कलापों में

**पकप्पिता नत्थि अणूपि सञ्ञा** – अणुमात्र भी बौद्धिक प्रकल्पना उत्पन्न नहीं होती। (सु० नि० ८०६, ८०८, परमट्ठकसुत्त)

कल्पनाएं भ्रांति पैदा करती हैं। भगवान सत्यदर्शी थे और सत्यदर्शन की ही शिक्षा देते थे। तभी कहा कि –

**तेसं तेसं तथा तथा धम्मं देसेतुं**

– मैं उन-उन धर्मों यानी सच्चाइयों के बारे में ऐसा-ऐसा उपदेश देता हूं कि उस पर ठीक प्रकार से

**यथा यथा पटिपन्नो** – वैसे-वैसे प्रतिपन्न होने पर, उसे अभ्यास द्वारा उपलब्ध करने पर, साधक

**सन्तं वा 'अत्थी' ति ञस्सति** – जो 'है' उसे जान लेगा कि 'है', और

**असन्तं वा 'नत्थी' ति ञस्सति** जो 'नहीं है' उसे जान लेगा कि 'नहीं' है।

जो साधक अंतर्मुखी होकर सत्य के सहारे- सहारे अनुसंधान करेगा, वह स्थूल सत्य से आगे बढ़ते हुए सूक्ष्म सत्य, सूक्ष्मतर सत्य, सूक्ष्मतम परम सत्य का साक्षात्कार कर ही लेगा। परंतु जो कल्पना के आधार पर अनुसंधान करेगा, वह सत्य से बिछुड़ कर किसी बड़ी कल्पना में उलझ कर रह जाएगा। अतः कल्पनाओं को दूर रख कर कदम-कदम अनुभूतिजन्य सत्य के सहारे चलना ही भगवान का उपदेशित मार्ग है जो कहीं भटकाता नहीं, भरमाता नहीं, वल्कि मुक्ति के अंतिम लक्ष्य तक पहुँचा देता है। इसकी सफलता का रहस्य यही है कि जिस क्षण जो सत्य अनुभूति पर उतर रहा है उस पर किसी काल्पनिक मान्यता का आरोपण न होने पाये। जब जिस कल्पनाशून्य यथार्थ का अनुभव हो रहा है, तव उस समय का वही



सच्चा दर्शन है और इस यथार्थ दर्शन से जो ज्ञान जाग रहा है, वह यथार्थ ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। इस प्रकार जब-जब जो सत्य अनुभूत हो, उसके सहारे-सहारे सत्य ज्ञान जगाता हुआ साधक परम सत्य के ज्ञान को प्राप्त कर लेता है जो कि मुक्तिप्रदायक होने के कारण सर्वोपरि ज्ञान है। इसे ही लक्ष्य करके भगवान ने कहा –

**एतदानुत्तरियं, आनन्द, ञाणानं यदिदं तत्थ तत्थ यथाभूतञाणं।**

– हे आनंद, जहां-जहां तथ्यों के आधार पर यथाभूत ज्ञान जागता है वह अनुत्तर ज्ञान है, सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है।

**एतस्मा चाहं, आनन्द, ञाणा अञ्ञं ञाणं उत्तरितरं वा पणीततरं वा नत्थीति वदामि।** (अ० नि० ३.१०.२२, अधिवुत्तिपदसुत्त)

हे आनंद, मैं कहता हूं कि इस ज्ञान से उत्तरोत्तर अथवा प्रणीततर अन्य कोई ज्ञान नहीं है।

## शुभ विमोक्ष

यह प्रणीततम दर्शन-ज्ञान तब प्राप्त होता है जब कि दर्शन-ज्ञान की यात्रा का हर कदम यथाभूत सत्य के सहारे ही उठता है। अनित्य क्षेत्र की अनित्यता का यथाभूत दर्शन करके जब साधक आगे बढ़ता है तब स्थूल से सूक्ष्मता की ओर बढ़ता हुआ अनित्यता के सारे क्षेत्र को पार कर नित्य तक पहुँच जाता है। पर अनित्य की किसी भी सूक्ष्म अवस्था को नित्य मान कर भटक जाता है तो वास्तविक नित्य तक पहुँच नहीं पाता। और अक्सर यही होता है। अति सूक्ष्म लौकिक क्षेत्र की अनुभूति अत्यंत प्रिय लगती है, अतः शुभ लगती है, शिव लगती है जबकि अनित्य होने के कारण वह शुभ नहीं, अशुभ ही है; शिव नहीं, अशिव ही है, विमोक्ष की अवस्था नहीं, बंधन की अवस्था ही है। जो वास्तविक शुभ शिव अवस्था है वह नित्य शाश्वत ध्रुव की अवस्था है, विमुक्ति-विमोक्ष कीं अवस्था है। परंतु जो अनित्य है, अशुभ है, अशिव है, उसे नित्य शिव शुभ विमोक्ष मान बैठे तो वास्तविक नित्य शिव शुभ विमोक्ष तक कैसे पहुँचे? भिन्न-भिन्न दार्शनिक मान्यताओं में

आसक्त लोग इसी कारण वास्तविक शुभ विमोक्ष तक नहीं पहुँच पाते। इसी को लक्ष्य करके भगवान ने भार्गव से कहा कि तुम्हारे जैसे के लिए जो कि,

**अञ्ञदिट्ठिकेन** - अन्य दृष्टि वाले हैं,

**अञ्ञखन्तिकेन** - अन्य मत वाले हैं,

**अञ्ञरुचिकेन** - अन्य रुचि वाले हैं,

**अञ्ञत्रायोगेन** - अन्यत्र आसक्त हैं,

**अञ्ञत्राचरियकेन** - अन्य किसी आचार्य के मत को मानने वाले हैं,

**दुक्करं खो एतं, भग्गव, तया... सुभं विमोक्खं उपसम्पज्ज विहरितुं।**

(दी० नि० ३.४८, पाथिकसुत्त)

- हे भार्गव, ऐसे तुम्हारे लिए शुभ विमोक्ष तक पहुँच पाना दुष्कर है।

यह इसीलिए कि ऐसे लोग यथाभूत सत्य पर अपनी दार्शनिक मान्यता का, अपने मत-मतांतर का, अपनी रुचि का, अपनी आसक्ति का, अपने आचार्य के अभिनिवेश का काल्पनिक आरोपण करेंगे और यों अनित्य क्षेत्र के यथाभूत सत्य के ज्ञान-दर्शन से ही वंचित रह जायेंगे। वे यथार्थ शुभ विमोक्ष का यथाभूत ज्ञान-दर्शन कैसे कर पाएंगे?

भगवान की शिक्षा यथाभूत ज्ञान-दर्शन की शिक्षा है। अतः इसमें अंधविश्वासजन्य अथवा बुद्धिजन्य कल्पनाओं के लिए रंचमात्र भी स्थान नहीं है।

## शीलव्रत

बौद्धिक ऊहापोह-जन्य ज्ञान के अतिरिक्त कभी-कभी रूढ़िजन्य सांप्रदायिक परंपराओं के आधार पर भी दार्शनिक मान्यताओं का निर्माण हो जाता है। तभी कहा-

**दिट्ठिम्पि लोकस्मिं न कप्पयेय्य**

- संसार में दार्शनिक मान्यताओं का कल्पित निर्माण न करे।

**ञाणेन वा सीलवतेन वापि।** (सु० नि० ८०५, परमट्ठकसुत्त)

- न बौद्धिक ज्ञान के आधार पर, न शीलव्रत के आधार पर।



शील और व्रत अपने आपमें अच्छे हैं, शुद्ध धर्म के ही अंग हैं। परंतु जब किसी संप्रदाय की परंपरागत रूढ़िगत मान्यता से जुड़ जाते हैं, तब बड़े बाधक बन जाते हैं। जब किसी एक शील या व्रत को खींच कर अतियों तक ले जाया जाता है और उसके इस प्रकार के पालन से भवमुक्ति होगी, यह एक दार्शनिक मान्यता मान ली जाती है तब उसे एक कर्मकांड बना कर उसके प्रति **परामास** यानी आसक्ति जगा ली जाती है। तब यही शीलव्रत बड़ा भयावह बन जाता है।

## अन्य सांप्रदायिक दार्शनिक मान्यताएं

इसी प्रकार सांप्रदायिक परंपराओं के आधार पर अन्य अनेक दार्शनिक मान्यताएं भी स्थापित हो जाती हैं, जो कि भवमुक्ति के लिए बाधक बनती हैं।

उन दिनों ऐसी तीन मान्यताएं बहुत प्रचलित थीं-

**तीणिमानि, भिक्खवे, तित्थायतनानि**

- भिक्षुओ, यह तीन तीर्थायतन हैं यानी संप्रदायवादियों की ये तीन मान्यताएं हैं।

**सन्ति, भिक्खवे, एके समणब्राह्मणा एवंवादिनो एवंदिट्ठिनो**

भिक्षुओ, कुछ श्रमण, ब्राह्मण इस मत वाले, इस दार्शनिक मान्यता वाले हैं कि-

**यं किञ्चायं पुरिसपुग्गलो पटिसंवेदेति सुखं वा दुक्खं वा अदुक्खमसुखं वा**

कोई व्यक्ति सुख, दुःख या असुख-अदुःख जो कुछ भी अनुभव करता है-

(१) **सब्बं तं पुब्बेकतहेतु** - वह सब पूर्व कर्मों के कारण होता है।

(२) **सब्बं तं इस्सरनिम्मानहेतु** - वह सब ईश्वर-निर्माण के कारण होता है।

(३) **सब्बं तं अहेतुअप्पच्चया** - वह सब किसी हेतु या कारण के बिना ही होता है। (अ० नि० १.३.६२, तित्थायतनसुत्त)

ये तीनों सांप्रदायिक मान्यताएं मानवी पुरुषार्थ का हनन करने वाली हैं। मानव को विवश, लाचार और अकर्मण्य बनाने वाली हैं। कर्म और तदनुकूल कर्मफल के नैसर्गिक सिद्धांत को पूर्णतया न मानने के कारण सत्य-धर्म विरोधी हैं और उन दिनों की भाषा में नास्तिक मान्यताएं हैं। दुष्कर्मों से बचने और सत्कर्मों में लगने की धर्म- शिक्षा को शिथिल करने वाली मान्यताएं हैं। अतः हानिकारक मान्यताएं हैं।

१) यदि यह मान लें कि हमारे जीवन के सभी सुख-दुःख महज पूर्वकृत कर्मों के ही कारण हैं तो हम विवश भाग्यवादी बन जायेंगे और हमारे लिए वर्तमान कर्म का कोई महत्त्व ही नहीं रह जायगा। पूर्व-कर्मों के बंधन से मुक्त होने का कोई प्रयत्न- प्रयास, कोई पराक्रम-पुरुषार्थ नहीं रह जायगा। कर्म- सिद्धांत के नाम पर एक अति की ओर खिंच जाने के कारण वास्तविक कर्म-सिद्धांत पर आघात करने वाली यह अत्यंत युक्ति-असंगत मान्यता है। यदि पूर्व-कर्म फल दे रहे हैं तो वर्तमान कर्म क्यों नहीं देंगे? वर्तमान कर्म को भुला कर केवल पूर्व-कर्मों को ही सारा महत्त्व देंगे तो असहाय, असमर्थ, निढाल होकर भाग्य-भरोसे बैठे रह जाना होगा।

२) यदि यह मान लें कि सारे सुख-दुःखों का निर्माता कोई ईश्वर है तो हम फिर लाचार हो गए। अच्छे कर्म करें या बुरे, सुख-दुःख तो इन कर्मों के कारण आने वाले हैं नहीं। ईश्वर की जैसी मरजी होगी, वैसे ही आयेंगे। अतः न अच्छे कर्म करने का कोई लाभ है, न वुरे कर्म करने से कोई हानि। ईश्वरेच्छा की यह मान्यता नैसर्गिक कर्म-सिद्धांत के सर्वथा विरुद्ध है। यदि ऐसा मान लें कि लोग अपने दुष्कर्मों के कारण नहीं बल्कि किसी निर्माता ईश्वर की इच्छा के कारण दुःख भोग रहे हैं तो इसका अर्थ हुआ कि लोग किसी – "पापकेन इस्सरेन निम्मिता" (म० नि० ३.९, देवदहसुत्त) पापी (निर्दयी) ईश्वर द्वारा निर्मित हैं। हमारे सुख उस ईश्वर के मूड पर, मिजाज पर निर्भर हैं, न कि अपने सत्कर्मों पर। अतः अपने कर्मों को सुधारने के बजाय उस ईश्वर का मूड सुधारने के लिए उसकी प्रशंसा में, प्रशस्तिमयी खुशामदों में लगे रहेंगे। पहली मान्यता के लोग जैसे भाग्य-भरोसे बैठे रहेंगे वैसे ही इस दूसरी मान्यता के लोग ईश्वर-भरोसे बैठे रहेंगे।



३) यदि यह मान लें कि हमारे सुख, दुःख बिना किसी कारण के यों ही अकस्मात हो जाते हैं तो सत्कर्म करने और दुष्कर्म न करने का महत्त्व ही कहां रह जायेगा? कोई व्यक्ति कर्म और कर्मफल पर आधारित नैसर्गिक धर्म का पालन क्यों करेगा? वह हर प्रकार के झूठ छल फरेब द्वारा अपनी इच्छाओं की पूर्ति में लग जायेगा। सत्कर्म करना तो दूर रहा, उसका चिंतन तक नहीं करेगा।

हम देखते हैं कि ऐसी अनेक मान्यताएं "सञ्ञक्खरसञ्ञनिस्सितानि" (सु० नि० ५४३, सभियसुत्त) बुद्धिजन्य कल्पनाओं पर आश्रित हैं और इस कारण महज दिमागी सर्कस हैं, बौद्धिक व्यायाम हैं, बौद्धिक विपर्यास हैं, बुद्धि-किलोल हैं, बुद्धि- विलास हैं। वास्तविक अनुभूतियों से सर्वथा शून्य हैं।

कुछ एक दार्शनिक मान्यताएं अनुभूतियों पर भी आधारित होती हैं। लेकिन ये अनुभूतियां भी अधूरी हों, तो भ्रांतियां पैदा करती हैं।

## आनंद और कोकनद

भगवान तो भगवान, उनके शैक्ष्य शिष्य तक इन दार्शनिक मान्यताओं की उलझनों के बारे में खूब जानते थे। एक बार राजगृह में तपोदा स्रोत के समीप परिव्राजक कोकनद आयुष्मान आनंद से मिले। दार्शनिक मान्यताओं को लेकर उन दोनों की जो बात- चीत हुई, उसके अंत में आनंद ने कहा –

**यावता, आवुसो, दिट्ठि** – हे आयुष्मान, जितनी दार्शनिक मान्यताएं हैं,

**यावता दिट्ठिट्ठानं** – दार्शनिक मान्यताओं के जितने स्थान हैं, आश्रय हैं,

**दिट्ठिअधिट्ठानं** – दार्शनिक मान्यताओं के जितने अधिस्थान हैं यानी अभिनिवेश अधिस्थित आश्रय हैं,

**दिट्ठिपरियुट्ठानं** – दार्शनिक मान्यताओं के जितने पर्युपस्थान हैं यानी परिपूर्णतया अभिभूत कर लेने वाले आश्रयस्थान हैं,

**दिट्ठिसमुट्ठानं** – दार्शनिक मान्यताओं के जितने समुत्थान हैं यानी उनके समुदय होने के आश्रय-स्थान हैं,

**दिट्ठिसमुग्घातो** – दार्शनिक मान्यताओं के जितने समुद्घात हैं यानी उनका समूल उच्छिन्न हो जाना है,

**तमहं जानामि तमहं पस्सामि** – उन्हें मैं जानता हूं, उन्हें मैं देखता हूं यानी अनुभव करता हूं। (अ० नि० ३.१०.९६, कोकनुदसुत्त)

## भगवान का अनुभव

परंतु भगवान का अनुभव तो सर्वोपरि है। जो पर्वतारोही पर्वत की पगडंडी के पड़ावों को एक-के-बाद-एक पीछे छोड़ता हुआ आगे बढ़ता जाता है और अंततः सर्वोच्च शिखर तक जा पहुँचता है, वह पर्वत के इस ओर की सारी सच्चाई जान लेता है। वह यह जान लेता है कि इस मार्ग पर कहां-कहां कैसे- कैसे पड़ाव हैं, जहां पहुँच कर कोई यात्री भ्रमवश उसे ही अंतिम लक्ष्य मान कर रुक जाता है और आगे नहीं बढ़ पाता। भगवान ऐसे किसी पड़ाव पर रुके नहीं। आगे बढ़ते हुए चोटी तक जा पहुँचे, जहां उन्हें पर्वत के इस ओर की ही नहीं बल्कि उस ओर की सच्चाई का भी साक्षात्कार हो गया। उन्होंने अध्यात्म के शिखर की चढ़ाई पूरी कर ली। अतः उन्हें खूब ज्ञात हो गया कि जो यात्री जिस पड़ाव पर अटक कर, उसे ही अंतिम लक्ष्य मान बैठा तथा इस अधूरी अनुभूति के आधार पर उसने एक दार्शनिक मान्यता स्थापित कर ली, वह उस पड़ाव के प्रति अत्यंत आसक्त हो गया। परिणामतः मुक्त अवस्था तक पहुँचा देने वाली आगे की यात्रा से वंचित रह गया। अतः उसका भव-संसरण नहीं रुक पाया।

अज्ञान में अटके उन अभागे दार्शनिकों की और उनके अंध अनुयायियों की यह दयनीय अवस्था भगवान ने देखी।

**सेले यथा पब्बतमुद्धनिट्ठितो, यथापि पस्से जनतं समन्ततो।**
**तथूपमं धम्ममयं सुमेधो, पासादमारुय्ह समन्तचक्खु।**
**सोकावतिण्णं जनतमपेतसोको, अवेक्खति जातिजराभिभूतं॥**

(इतिवु० ३८, वितक्कसुत्त)

– शैल पर्वत के शिखर पर खड़ा हुआ व्यक्ति जैसे (शिखर से नीचे रुके) सारे लोगों को देखे, उसी प्रकार धर्मरूपी अट्टालिका के ऊपर चढ़ कर



सर्वदर्शी सुप्रज्ञ शोकमुक्त भगवान (उस) शोक-निमग्न जनता को देखते हैं, जो कि जन्म, जरा, मृत्यु के दुःखों से पीड़ित है।

जो पर्वत के शिखर पर पहुँच जाता है वह अंतिम लक्ष्य तक पहुँच जाता है, सर्वथा भवमुक्त अवस्था तक पहुँच जाता है। जो बीच में अटक जाता है, वह जन्म-मृत्यु के भवचक्र में ही पड़ा रह जाता है। शिखर पर पहुँचा हुआ व्यक्ति इस ओर की लौकिक तथा उस ओर की लोकोत्तर अवस्था का साक्षात्कार कर सर्वदर्शी हो जाता है। वह सच्चाई को अनेक आयामों में देख सकने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। अतः सही माने में सुमेध हो जाता है, सुप्रज्ञ हो जाता है। परंतु जो किसी पड़ाव पर ही अटका रह जाता है, वह सच्चाई को एकांगी दृष्टि से देखने वाला होने के कारण दुर्मेध, दुष्प्रज्ञ रह जाता है।

**एकङ्गदस्सी दुम्मेधो, सतदस्सी च पण्डितो।** (थेरगा० १०६, सुहेमन्तत्थेरगाथा)

– एकांगदर्शी दुर्मेध दुष्प्रज्ञ है, शतांगदर्शी सुमेध पंडित है।

इस प्रकार विमुक्ति के पर्वत शिखर पर या यों कहें धर्ममयी अट्टालिका की सर्वोच्च मंजिल पर पहुँचा हुआ समंतदर्शी क्या विवाद करेगा? किस मान्यता के लिए विवाद करेगा?

**एवं विमुत्तचित्तो... भिक्खु न केनचि संवदति, न केनचि विवदति।**
(म० नि० २.२०५, दीघनखसुत्त)

– यों विमुक्तचित्त हुआ भिक्षु न किसी बोल-चाल में उलझता है, न विवाद करता है।

वह अनासक्त रह कर लोक-व्यवहार को देखता है।

परंतु जो बीच के पड़ाव में अटका है, वह तो एकांगदर्शी है। सर्वांश सत्य को देख नहीं पाता। एकांशिक सत्य की भ्रामक जानकारी में उलझा रहता है, वैसे ही जैसे कि कोई जन्म का अंधा, हाथी के किसी एक अंग का स्पर्श कर उसे ही हाथी मान बैठता है और दूसरों से विग्रह-विवाद करता है।

**विग्गय्ह नं विवदन्ति, जना एकङ्गदस्सिनो।** (उदा० ५४, पठमनानातित्थियसुत्त)

– (सच्चाई के) केवल एक अंग को देख कर लोग विग्रह-विवाद करते रहते हैं।

इस प्रकार अधूरी अनुभूति से उत्पन्न अधूरे ज्ञान के आधार पर अथवा बिना अनुभूति के कोरे बुद्धिविलास के आधार पर उपजी हुई इन विवादात्मक दार्शनिक मान्यताओं के बारे में भगवान खूब जानते हैं। तभी कहते हैं–

**तयिदं, भिक्खवे, तथागतो पजानाति** – भिक्षुओ, तथागत इसे अच्छी तरह जानते हैं।

**इमे दिट्ठिट्ठाना** – ये दार्शनिक मान्यताओं के आश्रय-स्थान हैं।

**एवंगहिता** – इस प्रकार इन्हें ग्रहण करके,

**एवंपरामट्ठा** – इस प्रकार इनके प्रति आसक्त हो कर, लोग

**एवंगतिका भवन्ति** – इस प्रकार की गति वाले होते हैं।

**एवंअभिसम्पराया** – इस प्रकार के पुनर्जन्म वाले होते हैं।

परम मुक्त अवस्था की अध्यात्मिक यात्रा करते हुए भगवान उस-उस पड़ाव में से गुजर चुके हैं। अतः कहते हैं,

**तञ्च तथागतो पजानाति** – तथागत उसे भी भली प्रकार जानते हैं।

और क्योंकि उस पड़ाव को छोड़कर आगे बढ़ गये हैं, अत:

**ततो च उत्तरितरं पजानाति** – उससे आगे की सच्चाई को भी भली प्रकार जानते हैं।

जिन लोगों ने जिस किसी बीच के पड़ाव पर पहुँच कर जिस किसी सच्चाई की अनुभूति की, वे उसे ही अंतिम लक्ष्य मान कर उसके प्रति आसक्त हो गये, वे वहीं अटके रह गये; लेकिन भगवान ऐसा नहीं करते। वे प्रत्येक पड़ाव की सच्चाई को जान लेते हैं, परंतु

**तञ्च पजाननं न परामसति** – इस जान लेने के प्रति आसक्त नहीं होते, यों जिस-जिस पड़ाव पर पहुँचते हैं, वहां-वहां बिना अटके

**अपरामसतो चस्स** – उसके प्रति अनासक्त रहते हुए



आगे बढ़ते जाते हैं और अंततः

**पच्चत्तञ्ञेव निब्बुति विदिता।** (दी० नि० १.१०३, ब्रह्मजालसुत्त)

– अपने भीतर स्वयं मुक्त अवस्था का प्रत्यक्ष अनुभव कर लेते हैं।

अध्यात्मिक यात्रा के किसी एक पड़ाव पर अटक कर किसी दार्शनिक मान्यता को स्थापित करने वाले अन्य यात्रियों में और भगवान में यही अंतर है। भगवान अपनी अनुभूति के किसी पड़ाव के प्रति आसक्त नहीं होते, तभी अंतिम अवस्था तक जा पहुँचते हैं।

भगवान किसी भी अनित्यधर्मा पड़ाव पर काल्पनिक नित्यता का आरोपण कर उसके प्रति चिपकाव पैदा नहीं कर लेते। सभी पड़ावों के प्रति नितांत अनासक्त रहते हुए वे लोगों को उपदेश देते हैं। इसीलिए उनके बारे में कहा गया,

**विनिच्छया यानि पकप्पितानि** – जो प्रकल्पित (दार्शनिक मान्यताएं) हैं उनका विनिश्चय कर,

**ते वे मुनी ब्रूसि अनुग्गहाय।** (सु० नि० ८४४, मागण्डियसुत्त)

– उनके बारे में मुनि ने अनुग्रहपूर्वक बताया है।

ऐंद्रिय क्षेत्र की सारी स्थितियों के अनित्य, दुःख, अनात्म स्वभाव को अनुभूति के स्तर पर यथाभूत जानते हुए भगवान उनके प्रति अनासक्त रहे तभी इंद्रियातीत नित्य, शाश्वत ध्रुव निर्वाणिक अवस्था का साक्षात्कार कर सके। जिन लोगों ने कल्पित मान्यता स्थापित की, वे इंद्रियातीत अवस्था तक नहीं पहुँच पाये। ऐंद्रिय क्षेत्र में ही अटके रह गये। आंख, कान, नाक, जीभ, त्वचा और मन इन छहों इंद्रियों का अपने-अपने विषयों से जहां स्पर्श होता है वहीं ऐंद्रिय क्षेत्र है। वहीं इन प्रकल्पित दार्शनिक मान्यताओं का निर्माण होता है। यही देख कर भगवान ने कहा कि विभिन्न दार्शनिक मान्यताएं, "फस्सपच्चया" (दी० नि० १.११८-१३०, ब्रह्मजालसुत्त) होती हैं अर्थात स्पर्श के क्षेत्र में ही उत्पन्न होती हैं। किसी न किसी इंद्रिय का अपने विषय से स्पर्श होने पर जो संवेदना यानी अनुभूति होती है, उसी के आधार पर किसी दार्शनिक मान्यता का सृजन होता है।

**ते वत अञ्ञत्र फस्सा पटिसंवेदिस्सन्तीति नेतं ठानं विज्जति**

(दी० नि० १.१४३, ब्रह्मजालसुत्त)

– (इंद्रियों के) स्पर्श के क्षेत्र को छोड़कर अन्यत्र कहीं इन दार्शनिक मान्यताओं की प्रतिसंवेदना हो, इसकी कोई संभावना नहीं है। इंद्रियातीत निर्वाणिक अवस्था का क्षेत्र स्पर्श के क्षेत्र से परे है, वेदना के क्षेत्र से परे है, छह इंद्रियों के क्षेत्र से परे है। छह इंद्रियां, स्पर्श और वेदना, ये तीनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं।

**सळायतनपच्चया फस्सो** – छह इंद्रियां होंगी, तब स्पर्श होगा (ही)।

**फस्सपच्चया वेदना** – स्पर्श होगा तब वेदना होगी (ही)।

(महाव० १, बोधिकथा)

आज की भाषा में वेदना केवल पीड़ाजनक अनुभूति को ही कहते हैं। परंतु उन दिनों की भाषा में सुखद, दु:खद अथवा असुखद- अदु:खद तीनों अनुभूतियां वेदना कहलाती थीं।

ऐन्द्रिय क्षेत्र की सूक्ष्म अवस्था में यानी ध्यान की दिव्य ब्राह्मी अनुभूतियों के क्षेत्र में स्थूल दु:खद वेदना नहीं होती। सुखद अथवा अत्यंत प्रशांत, प्रश्रब्ध, असुखद-अदु:खद संवेदना ही होती है। वह भी ऐंद्रिय क्षेत्र ही है; अतः अनित्यधर्मा है। परंतु भ्रमवश उसके नित्य, शाश्वत, ध्रुव होने की प्रकल्पना करके भिन्न-भिन्न दार्शनिक मान्यताओं की स्थापना की जाती है। इसीलिए कहा गया कि जिन- जिन श्रमणों या ब्राह्मणों ने ऐसी दार्शनिक मान्यताओं का प्रज्ञापन किया है,

**सब्बे ते छहि फस्सायतनेहि फुस्स फुस्स पटिसंवेदेन्ति।**

(दी० नि० १.१४४, ब्रह्मजालसुत्त)

– वे सब के सब छह इंद्रियों के क्षेत्र में स्पर्श ही स्पर्श की प्रतिसंवेदनाओं का अनुभव करते हैं। इसके परे नहीं।

यह अनित्यता का क्षेत्र है, ऐसा न जानते हुए और न समझते हुए उस पर नित्यता का मिथ्या आरोपण करके उसके प्रति तृष्णा जगाते हैं और उससे आसक्त हो कर दुखी हो जाते हैं।

**तेसं भवतं समणब्राह्मणानं अजानतं अपस्सतं**



– वे श्रमण-ब्राह्मण (उसके अनित्यधर्मा स्वभाव को) न जानते हुए, न समझते हुए उसे

**वेदयितं** – भोक्ताभाव से भोग कर

**तण्हागतानं** – उसके प्रति तृष्णायुक्त होते हैं, और यह उनका

**परितस्सितविप्फन्दितमेव** – परित्रासयुक्त यानी संतापयुक्त होना है और तड़पनयुक्त होना ही है।

(दी० नि० १.११०, ब्रह्मजालसुत्त)

अधूरे ज्ञान के कारण वे इस बात को नहीं समझ पाते कि उनकी अनुभूति का यह क्षेत्र **सळायतन** (छह इंद्रियों) का क्षेत्र है। इस क्षेत्र में इंद्रियों का विषयों के साथ स्पर्श होने पर किसी न किसी संवेदना की अनुभूति होती है और ऐसा होने पर

**तेसं वेदनापच्चया तण्हा** – उनकी इस वेदना के कारण तृष्णा,

**तण्हापच्चया उपादानं** – तृष्णा के कारण उपादान (आसक्ति) उत्पन्न होती है।

और आसक्ति है तो भवचक्र चलायमान ही रहेगा। क्योंकि–

**उपादानपच्चया भवो** – उपादान के कारण भव और

**भवपच्चया जाति** – भव के कारण जन्म यानी पुनर्जन्म होगा तो

**जातिपच्चया जरामरणं सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति।**

(दी० नि० १.४४, ब्रह्मजालसुत्त)

– जन्म के कारण बुढ़ापा, मृत्यु, शोक, विलाप, दु:ख, दौर्मनस्य और चिंता आदि होंगे ही।

अनित्यधर्मा ऐंद्रिय क्षेत्र की अनुभूतियों को नित्य, शाश्वत, ध्रुव मान कर उनके प्रति आसक्त हो जाने से न भवचक्र टूट पाता है, न दु:खचक्र।

सत्य की खोज में निकले बोधिसत्त्व सिद्धार्थ गौतम ने इन ऐंद्रिय अनुभूतियों के अनित्यधर्मा क्षेत्र पर किसी प्रकार का मिथ्या लेप नहीं लगने दिया। सामान्य सांसारिक स्थूल ऐंद्रिय अनुभूतियों की तो बात ही क्या, गहरी ध्यान समापत्तियों की ब्राह्मी अनुभूतियों पर भी नित्यता का मिथ्या आरोपण नहीं किया। जो सत्य जैसा है उसे वैसे ही स्वीकारा और आठवें

ध्यान के अरूप ब्रह्मलोकों की अनुभूतियों को भी उनके अनित्य स्वभाव में ही जाना और समझा।

उन्होंने देखा कि इंद्रियों का सारा क्षेत्र **समुदयञ्च अत्थङ्गमञ्च** का स्वभाव-क्षेत्र है। इंद्रियों और उनके विषयों का स्पर्श क्षेत्र **फस्सायतनानं** भी "समुदयञ्च अत्थङ्गमञ्च" के स्वभाववाला ही है और इस स्पर्श से उत्पन्न होने वाली सभी सुखद, दुःखद, असुखद-अदुःखद संवेदनाओं का क्षेत्र भी "समुदयञ्च अत्थङ्गमञ्च" के स्वभाववाला ही है।

अन्य ध्यानियों ने ध्यान की भिन्न-भिन्न दिव्य ब्राह्मी अवस्थाओं में जिन सुखद अथवा प्रशांत संवेदनाओं की अनुभूतियां कीं और फलस्वरूप दिव्य-दृष्टि तथा पूर्व जन्म के ज्ञान की अधूरी सिद्धियां प्राप्त कीं, वे वहीं रुके रह गये और उसी अनुभूति के साथ बुद्धि और कल्पना को जोड़ कर किसी न किसी दार्शनिक मान्यता की स्थापना कर दी।

कुछ ध्यानियों ने इन सिद्धियों द्वारा अपने अनेक पूर्व जन्म देखे और बार-बार वही व्यक्ति और वही संसार देखा तो अनुमान द्वारा यह मान्यता स्थापित की कि यह वही आत्मा है, वही लोक है। अतः आत्मा और लोक दोनों नित्य हैं, अमर हैं।

कुछ ध्यानियों ने और गहरे ध्यान द्वारा और अधिक सबल सिद्धियां प्राप्त कीं, वे और अधिक संख्या में अपने पूर्व जन्म देख सके। उन्होंने देखा कि इस बीच लोक अनेक बार नष्ट हुआ और नया बना है। अतः उन्होंने यह मान्यता स्थापित की कि यह आत्मा तो नित्य है, परंतु लोक अनित्य है।

देवलोकों के देवों की और ब्रह्मलोकों के ब्रह्माओं की आयु क्रमशः अधिक से अधिकतर होती है। किन्हीं ब्रह्माओं और महाब्रह्माओं की आयु अनेक कल्पों की होती है। अलग-अलग ध्यानियों ने अपनी-अपनी पूर्वजन्म-ज्ञान की न्यूनाधिक सिद्धि के कारण देव व ब्रह्मलोक के इन प्राणियों में से किन्हीं को अमर और किन्हीं को मरणधर्मा माना। किसी ब्रह्मा या महाब्रह्मा को अमर ही नहीं, सृष्टि का रचयिता भी माना, क्योंकि उन्होंने देखा कि इस ब्रह्मा या महाब्रह्मा के रहते कितनी बार संसार की



उत्पत्ति हुई और उसका लय हुआ। ऐसी अधूरी अनुभूतियों के आधार पर प्राप्त हुए अधूरे ज्ञान द्वारा विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं की स्थापना हुई।

भगवान ने इनका गहरा निरीक्षण करके देखा तो पाया कि ये सब की सब ऐंद्रिय क्षेत्र की ही अनुभूतियां हैं। यह इंद्रियों और उनके आलंबन से उत्पन्न होने वाली वेदनाओं का ही क्षेत्र है। उन्होंने इन वेदनाओं का यथाभूत ज्ञान-दर्शन किया, और

**वेदनानं समुदयञ्च अत्थङ्गमञ्च**
– वेदनाओं के समुदय अर्थात उत्पाद और अस्तगमन अर्थात व्यय को जाना।

**अस्सादञ्च**
– उनके आस्वादन को जाना यानी भोक्ताभाव से उनके रसास्वादन किए जाने को जाना।

भोक्ताभाव के रसास्वादन से ही आसक्ति के बंधन बँधते हैं। अतः इस आस्वादन के

**आदीनवञ्च** – आदीनव को यानी दोष को, खतरे को जाना। और इस दोष को, ख़तरे को जानते हुए विपश्यना साधना द्वारा

**निस्सरणञ्च** – इस खतरे से निकलना भी जाना।

**यथाभूतं विदित्वा** – यथाभूत जान कर

**अनुपादाविमुत्तो, भिक्खवे, तथागतो** – भिक्षुओ, तथागत अनासक्त रह कर विमुक्त हुए।

जहां अन्य लोग इन दिव्य और ब्राह्मी अनुभूतियों का रसास्वादन कर उनमें लिप्त हो गये, आसक्त हो गये और भव-संसरण में उलझे रह गये, वहां भगवान उनसे अलिप्त अनासक्त रह कर उनके परे नित्य, शाश्वत, ध्रुव, इंद्रियातीत निर्वाण का साक्षात्कार कर भव-संसरण से विमुक्त हो गये। यह विपश्यना साधना की वह अवस्था है जिसे अरहंत की निरोध समापत्ति कहते हैं। जितने समय यह निरोध समापत्ति कायम रहती है उतने समय छहो इंद्रियां निरुद्ध रहती हैं, काम करना बंद कर देती हैं। तभी यह सही

माने में इंद्रियातीत अवस्था होती है। तदनंतर साधक पुनः ऐंद्रिय लोक में विचरण करने लगता है।

उन्होंने इस प्रकार एक सत्यान्वेषी वैज्ञानिक की भांति समस्त अनित्यधर्मा ऐंद्रिय क्षेत्र की अनुभूतियों का तो ज्ञानपूर्वक दर्शन किया ही, उसके परे के नित्यधर्मा निर्वाण का भी साक्षात्कार किया और कहा-

**इमे खो ते, भिक्खवे, धम्मा** - भिक्षुओ, ये धर्म

**गम्भीरा** - गंभीर हैं।

**दुद्दसा** - दुर्दर्शनीय हैं, इनका दर्शन कर सकना कठिन है।

**दुरनुबोधा** - दुरनुबोध हैं, अर्थात इनका अनुबोध कर पाना कठिन है।

**सन्ता** - शांत हैं।

**पणीता** - प्रणीत हैं, अर्थात उत्तम हैं।

**अतक्कावचरा** - बुद्धिजन्य तर्क-वितर्कों से नहीं समझे जा सकते, तर्कों के क्षेत्र से परे हैं।

**निपुणा** - सूक्ष्म हैं, अतः

**पण्डितवेदनीया** - (सत्यशोधक) समझदार लोगों के लिए ही अनुभवगम्य हैं।

**ये तथागतो** - जिन्हें तथागत

**सयं अभिञ्ञा सच्छिकत्वा पवेदेति।** (दी॰ नि॰ १.१०३,१०४, ब्रह्मजालसुत्त)

अभिज्ञान यानी परम ज्ञान द्वारा स्वयं साक्षात्कार करके औरों को बताते हैं।

यह नित्य, शाश्वत, ध्रुव निर्वाण की वह अवस्था है जिसका साक्षात्कार कर जन्म-मरण के चक्र का सारा रहस्य हथेली पर रखे आंवले की भांति बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। इस मुक्त अवस्था पर पहुँच कर भगवान के जो प्रथम उद्गार निकले, वे ध्यान देने योग्य हैं।

**अनेकजातिसंसारं** - (पूर्व जन्मों के ज्ञान की अपूर्व सिद्धि द्वारा अपने अनंत पूर्व जन्मों का स्मरण करते हुए उन्होंने देखा कि) इस भव-संसार में मैं अनेक बार जन्मा और



**सन्धाविस्सं अनिब्बिसं** - बिना कुछ प्राप्त किए, इस भव-संसार में संसरण-संधावन करता ही रहा, दौड़ लगाता ही रहा।

**गहकारकं गवेसन्तो** - घर बनाने वाले की खोज करते हुए, अर्थात इस खोज में लगा रहा कि प्रत्येक मृत्यु पर अगले जन्म के लिए नये शरीर का निर्माण कौन करता है? जन्म-मरण की सृष्टि का रचयिता कौन है? परंतु ऐसे किसी स्रष्टा व्यक्ति की निरर्थक और निष्फल खोज में

**दुक्खा जाति पुनप्पुनं** - बार-बार दुःखमय जन्म लेता रहा, यानी भव-संसरण बंद नहीं हुआ।

**गहकारक दिट्ठोसि** - हे घर बनाने वाले, (अब) तू देख लिया गया है।

**पुन गेहं न काहसि** - अब तू पुनः (मेरे लिए) घर नहीं बना सकेगा।

क्योंकि

**सब्बा ते फासुका भग्गा** - तेरी सारी कड़ियां भग्न हो गयी हैं। और

**गहकूटं विसङ्खतं** - घर का कूटस्थ स्तंभ टूट चुका है।

उन दिनों साधारणतया गृह-निर्माण की यही प्रणाली थी। बीचो-बीच एक बहुत ऊंचा सुदृढ़ खंभा गाड़ा जाता था और उसकी कुछ दूरी पर वृत्ताकार में कुछ छोटे खंभे गाड़े जाते थे। बीच वाले कूटस्थ ऊंचे खंभे के सिरे को और वृत्ताकार गड़े हुए अन्य खंभों के सिरों को परस्पर कुंदों और कड़ियों द्वारा जोड़ा जाता था। यदि बीच का कूटस्थ स्तंभ गिर जाय और ये कुंदे, कड़ियां भग्न हो जायँ, तो घर अपने आप धराशायी हो जाय। नया स्तंभ और नई कड़ियों के अभाव में नया घर बन नहीं पाय।

कौन है यह घर बनाने वाला, जिसका तथागत ने दर्शन कर लिया? कैसा है यह 'गृहकूट' और कैसी हैं ये पसलियों जैसी कड़ियां जो नष्ट कर दी गयी हैं? जब तक किसी व्यक्तिविशेष के रूप में रचयिता की खोज थी, तब तक भ्रांति-ही-भ्रांति थी। अब सारे भवचक्र के निर्माण का और उसके भग्न होने की सच्चाई का यथाभूत दर्शन करके जो ज्ञान जागा, उससे वास्तविक सच्चाई स्पष्टतया समझ में आ गयी।

यह जो अविद्या यानी अज्ञान का अंधकार है, उसी में पुनः पुनः जन्म देने वाले भव-संस्कार बनते रहते हैं और तृष्णाओं की ये कड़ियां हैं जो

अविद्याजन्य संस्कारों से जुड़ी रहती हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद का यह सारा प्रपंच देख लिया गया और उसे विनष्ट कर दिया गया। तभी कहा गया-

**विसङ्खारगतं चित्तं** - नये जन्म देने वाले सभी संस्कारों से चित्त सर्वथा रिक्त हो गया।

**तण्हानं खयमज्झगा** - (अर्हत्व फल की) वह अवस्था प्राप्त हो गयी, जहां सारी तृष्णाओं का क्षय हो गया। (ध० प० १५३-१५४, जरावग्ग)

यही वह अवस्था है जिसके बारे में कहा गया-

**खीणं पुराणं नव नत्थि सम्भवं** - सभी पुराने विकारों का क्षय हो गया, नये विकार उत्पन्न हो नहीं सकते।

**विरत्तचित्तायतिके भवस्मिं** - चित्त पुनर्जन्म के संस्कारों से सर्वथा विरक्त हो गया। (सु० नि० २३८, रतनसुत्त)

छहो इंद्रियों का यह निरोध मृत अवस्था नहीं है। साधक जीवित रहता है। इस इंद्रियातीत अवस्था से निकल कर पुनः ऐंद्रिय क्षेत्र का जीवन जीने लगता है। परंतु अब वह नये जन्म का कोई कर्म-संस्कार नहीं बना पाता। इसी अवस्था को प्राप्त कर भगवान ने कहा-

**उच्छिन्नभवनेत्तिको, भिक्खवे, तथागतस्स कायो तिट्ठति।**

- भिक्षुओ, भवधारा उच्छिन्न हो जाने पर भी तथागत का शरीर रहता है।

जैसे किसी आम के पेड़ की फल लगी डाली पेड़ से टूट कर गिर जाय, उसमें और नये आम नहीं फल सकते। जो लगे हैं, वे भी समय पाकर नष्ट हो जाने के पश्चात पुनः नहीं दीखते। तभी कहा-

**यावस्स कायो ठस्सति, ताव नं दक्खन्ति देवमनुस्सा।**

- (भव-विमुक्त हो जाने के बाद) जब तक उनका यह शरीर कायम रहता है, तब तक ही देव-मनुष्य इसे देख सकते हैं।

**कायस्स भेदा उद्धं जीवितपरियादाना** - शरीरपात के उपरांत इस जीवनधारा के (भी) निरुद्ध हो जाने पर



**न नं दक्खन्ति देवमनुस्सा** - उन्हें (मनुष्यलोक के) मनुष्य और (देवलोक के) देवता नहीं देख पाते। (दी० नि० १.१४७, ब्रह्मजालसुत्त)

भवनेत्री (भवतृष्णा) को सर्वथा उच्छिन्न कर देते हैं, तो ही भगवान 'भगवान' होते हैं। भव-संसरण की धारा को सर्वथा भग्न कर देते हैं तो ही भगवान 'भगवान' होते हैं। इसी माने में गौतम बुद्ध 'भगवान' कहलाये।

किसी देवलोक या ब्रह्मलोक से मनुष्यलोक में या अधोलोक में बार-बार जन्म लेने वाले, बार-बार मृत्यु को प्राप्त होने वाले भवचक्र में पिसे जाते हुए देव-ब्रह्माओं से उन भवभग्नकारी भगवान का कोई मुकाबला नहीं, उनकी कोई तुलना नहीं।

## सर्वज्ञ भगवान

बोधिवृक्ष के तले विमोक्ष अवस्था के साथ-साथ,

**सब्बञ्ञुतञ्ञाणस्स पटिलाभा** - 'सर्वज्ञता' प्राप्त की, (महानि० १४९, महावियूहसुत्तनिद्देस)

और सिद्धार्थ गौतम बुद्ध 'भगवान' कहलाये।

परंतु हम स्वयं भगवान के मुँह से ही सुनते हैं कि-

**ये ते, वच्छ, एवमाहंसु** - वत्स, जो यह कहते हैं कि

**समणो गोतमो सब्बञ्ञू सब्बदस्सावी** - श्रमण गौतम सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, वह

**अपरिसेसं ञाणदस्सनं पटिजानाति** - निःशेष ज्ञान-दर्शन जानने का दावा करता है,

और कहता है कि -

**चरतो च मे तिट्ठतो च** - मुझे चलते या खड़े

**सुत्तस्स च जागरस्स च** - सोते या जागते

**सततं समितं** - सतत सदैव

**ञाणदस्सनं पच्चुपट्ठितन्ति** - ज्ञान-दर्शन उपस्थित रहता है।

**न मे ते वुत्तवादिनो** - वे मेरे बारे में यथार्थ कहने वाले नहीं हैं।

अब्भाचिक्खन्ति च पन मं असता अभूतेन।

(म० नि० २.१८८, ...)

– असत्य और अनहोनी (बात कह कर) वे मेरी निंदा करते हैं।

इन दोनों उद्धरणों में परस्पर विरोधाभास लगता है। सुनने से मन में यह प्रश्न उठता है कि क्या भगवान सचमुच सर्वज्ञ थे अथवा नहीं? इस कथन को पूरी तरह न समझने के कारण ऐसी भ्रांति भगवान के जीवनकाल में भी लोगों को हो जाया करती थी। महाराज प्रसेनजित को आकाशगोत्रीय ब्राह्मण संजय ने बताया कि श्रमण गौतम यह कहते हैं –

**नत्थि सो समणो वा ब्राह्मणो वा** – ऐसा कोई श्रमण या ब्राह्मण नहीं है,

**यो सब्बञ्ञू सब्बदस्सावी** – जो सर्वज्ञ हो, सर्वदर्शी हो।

**अपरिसेसं ञाणदस्सनं पटिजानिस्सति** – जो निःशेष यानी संपूर्ण ज्ञान-दर्शन को जानता हो।

**नेतं ठानं विज्जति** – इसकी कोई संभावना नहीं है।

(म० नि० २.३७७, कण्णकत्थलसुत्त)

प्रसेनजित भगवान को सर्वज्ञ मानता था। यह कथन सुनकर वह चौंका, क्योंकि इसका अर्थ यह हुआ कि स्वयं भगवान भी सर्वज्ञ नहीं हैं। अतः इस कथन की सच्चाई जांचने के लिए वह भगवान के पास गया। वहां पता चला कि भगवान ने जो कहा उसे ब्राह्मण संजय ने गलत समझा। भगवान ने वस्तुतः यह कहा था,

**नत्थि सो समणो वा ब्राह्मणो वा** – कोई ऐसा श्रमण या ब्राह्मण नहीं है,

**यो सकिदेव सब्बं ञस्सति, सब्बं दक्खिति**

– जो एक ही समय में सब कुछ जानता है, सब कुछ देखता है।

**नेतं ठानं विज्जति** (म० नि० २.३७८, कण्णकत्थलसुत्त)

– इसकी संभावना नहीं है।

उन दिनों लोगों में यह एक गलत मान्यता चल पड़ी थी कि जो सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, वह सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते- फिरते हर समय, हर अवस्था में सब कुछ जानता रहता है, सब कुछ देखता रहता है यानी उसे किसी भी एक क्षण में सारे विश्व के सभी चक्रवालों की और वहां के



प्राणियों की स्थिति का ज्ञान बना रहता है। भगवान ने सर्वज्ञता की इस व्याख्या को अस्वीकार किया। कहा कि **नेतं ठानं विज्जति** यानी इसकी कोई संभावना नहीं है। परंतु जो सर्वज्ञ है, वह जिस किसी वस्तु, व्यक्ति, स्थिति और घटना को जब जानना चाहता है, तब जान लेता है; जब देखना चाहता है, तब देख लेता है। भगवान बुद्ध ऐसे ही सर्वज्ञ थे।

जब कोई व्यक्ति पहले से चौथे ध्यान का सफल अभ्यास करता है तब उसे दिव्य-श्रोत, दिव्य-चक्षु, पर-चित्त-ज्ञान, पूर्वनिवास- स्मृति आदि-आदि ऋद्धियां उपलब्ध होती हैं। परंतु उसकी ये ऋद्धियां ससीम होती हैं। लेकिन तथागत भगवान जब बोधिवृक्ष के तले सम्यक संबोधि प्राप्त करते हैं तब उनके लिए ये ऋद्धियां असीम होती हैं। अन्य ध्यानियों के आस्रव जितने न्यून या अधिक मात्रा में होते हैं, उनकी ऋद्धियां भी उसी अनुपात से अधिक या कम मात्रा में सीमित होती हैं। परंतु सारे आस्रव नष्ट करके परम- मुक्त अवस्था प्राप्त कर लेने के कारण और असंख्य जन्मों में संगृहीत की गयी पारमिताओं के विपुल भंडार के कारण तथागत की यही ऋद्धियां असीम होती हैं। उनके ज्ञान-दर्शन में देश या काल बाधक नहीं बन सकते। इसी अर्थ में वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी भगवान कहलाते हैं।

भगवान बुद्ध जब, जिस समय, जो चाहें सो देख सकते हैं; जो चाहें सो जान सकते हैं, इस कारण उनका ज्ञान-दर्शन असीम है। परंतु वे लोगों को केवल उतनी ही बातें बताते हैं जो उनके काम की होती हैं। सभी प्राणी दुखियारे हैं। किसी को किसी एक बात का दुःख, किसी को किसी अन्य बात का दुःख। इन दुखियारे लोगों के लाभ की बात यही है कि वे इस तथ्य को जानें कि पांच स्कंधों से जकड़े रहने के कारण नीचे निरय से ले कर ऊपर भवाग्र लोक तक सारा भव-भ्रमण दुःख ही दुःख है। वे यह जानें कि सारे दुःखों का मूल कारण अविद्याजन्य तृष्णा है और यह भी जानें कि इसका निवारण संभव है और निवारण का उपाय भी है। भगवान लोगों को उनके काम की यही चार सच्चाइयां समझाते थे।

सुनने वाले व्यक्तियों की समझ सकने की योग्यता, क्षमता और उनकी वर्तमान और भूतकाल की पृष्ठभूमि आदि देखकर भगवान भिन्न-भिन्न लोगों

को भिन्न-भिन्न प्रकार से यही चार सच्चाइयां समझाते थे। निरर्थक बातों के व्याख्यान में वे न अपना समय नष्ट करते थे, न औरों का। तभी कहा -

**न हेतं, मालुङ्क्यपुत्त, अत्थसंहितं** — हे मालुङ्क्यपुत्त, जो न सार्थक है,
**न आदिब्रह्मचरियकं** - न सनातन धर्माचरण के लिए उपयोगी है,
**न निब्बिदाय** - न निर्वेद के लिए है,
**न बिरागाय** - न वीतरागता के लिए है,
**न निरोधाय** - न (ऐंद्रियक्षेत्र के) निरोध के लिए है,
**न उपसमाय** - न (क्लेशों के) उपशमन के लिए है,
**न अभिञ्ञाय** - न अभिज्ञा (अभिज्ञान) के लिए है,
**न सम्बोधाय** - न संबोधि के लिए है,
**न निब्बानाय संवत्तति** - न निर्वाण की ओर ले जाने वाली है,
**तस्मा तं मया अब्याकतं** - मैंने उन्हें इसीलिए आख्यात नहीं किया है।

(म० नि० २.१२८, चूळमालुक्यसुत्त)

उनकी जानकारी विशद है, पर उन्होंने आख्यात केवल उतना ही किया जो दुखियारों को दुःख-मुक्त कर सकने में सहायक हो। इसीलिए एक बार भूमि पर पड़े थोड़े से पत्तों को मुट्ठी में लेकर समझाया कि जिस प्रकार इस महावन के पेड़ों पर लगे असंख्य पत्तों की तुलना में उनकी मुट्ठी के पत्ते बहुत कम हैं, उसी प्रकार तथागत की सर्वज्ञताजन्य जानकारी की तुलना में जो कुछ तुम्हें बतलाया जा रहा है वह इतना ही कम है। परंतु इतना मात्र ही तुम्हारे लाभ के लिए है, तुम्हारे हित- सुख के लिए है।

(सं०नि० ५, महावग्ग ३१, सीसपावनसुत्त पृ. ३७५)

उन्हें अपनी सर्वज्ञता का निरर्थक प्रदर्शन नहीं करना था। अपनी इस अनुपम क्षमता का उपयोग केवल लोक-कल्याण के लिए ही करना था और उन्होंने जीवन-भर यही किया। इस प्रकार अपना ही भव-भग्न नहीं किया, प्रत्युत औरों के भव-भंजन होने में उनके सहायक हो गये, इसी माने में बुद्ध भगवान थे।

**इतिपि सो भगवा भगवा'ति।**

# महामानव बुद्ध

# महामानव बुद्ध

भगवान गौतम बुद्ध महापुरुष थे, महामानव थे। वे सामान्य मानव से कहीं अधिक महान थे। वे मानवीय सद्गुणों के अमित भंडार थे, सहृदय सौमनस्यता के अतुल आगार थे। वे समताजन्य अनासक्ति और अविचल सहिष्णुता के शीर्ष हिमालय थे, असीम मेधा और गंभीर प्रतिभा के अगाध सागर थे।

हम देखते हैं, तथागत गृहत्यागी थे, नितांत निःस्पृह, निरपेक्ष, निस्संग और निरासक्त थे। परंतु साथ-साथ यह भी देखते हैं कि वे दुखियारे जगत के प्रति अन्यमनस्क नहीं थे। दुखियारों को दुःखमुक्ति का मार्ग दिखाने के लिए अहर्निश प्रयत्नरत थे। गृहत्यागी भगवान नितांत निवृत्ति का जीवन जीते थे परंतु फिर भी लोक-कल्याण के लिए अत्यंत प्रबल प्रवृत्ति का अथक कर्मठ जीवन जीते थे।

भगवान बुद्ध मनुष्य रूप में संबुद्ध थे, मनुष्य देह में संबुद्ध थे–
**मनुस्सभूतं सम्बुद्धं।** (अ० नि० २.६.४३, नागसुत्त)

यह संबोधि मानव जीवन की उच्चतम उपलब्धि है, अतुलनीय महानता है। भगवान ऐसे महामानव थे जिनमें एक ओर मस्तिष्कपक्षीय प्रज्ञा की प्रखर प्रतिभा का चरम विकास हुआ था, दूसरी ओर हृदयपक्षीय असीम करुणाभरी स्नेह-सिक्तता का। उनकी प्रज्ञा जिन ऊंचाइयों को छूती थी, वह अमाप्य है। साथ-ही-साथ उनकी मैत्री और करुणा जिन गहराइयों तक पहुँची थी, वह अगाध है।

हमें भगवान की प्रखर प्रज्ञा के दर्शन उनके उपदेशों में स्थान-स्थान पर होते हैं। चाहे कोई श्रद्धालु व्यक्ति उनके उपदेशों का लाभ लेने आया हो अथवा कोई उद्दंड अहंकारी उनसे विग्रह-विवाद करने आया हो, भगवान शांत चित्त से स्नेह-सिक्त वाणी में सब को शुद्ध धर्म ही समझाते थे, जिससे सुनने वाला तत्काल प्रभावित हो जाता था। उनका कथन इतना युक्तिसंगत

और न्यायसंगत होता था कि उसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता था। धर्म के किसी भी पक्ष को स्पष्ट करने के लिए वे जिन उपमाओं का, उदाहरणों का प्रयोग करते थे, वे अद्भुत, अनुपम, आश्चर्यजनक और आकर्षक हुआ करते थे। इतनी बड़ी संख्या में, इतनी सटीक तथा प्रभावशाली उपमाओं का प्रयोग हम विश्व के अन्य किसी भी धर्मशास्ता के उपदेशों में नहीं देखते। उनकी उपमाएं लोगों के दैनिक जीवन से संबंधित होती थीं। इसीलिए इतनी प्रभावशालिनी होती थीं, इतनी हृदय को छूने वाली भी।

भगवान शुष्क ज्ञानी नहीं थे। उनके उपदेश ऐसे रूखे-सूखे नहीं होते थे कि सुनने वाला उकता जाय, ऊब जाय। सरस हृदय से निष्पन्न उनकी मधुर वाणी इतनी आकर्षक होती थी कि सुनने वाला मंत्रमुग्ध सा सुनता ही रह जाता था। भगवान की वाणी सुनने से उसका मन कभी नहीं भरता था। ऊब जाना, उकता जाना तो बहुत दूर की बात हुई। एक भिक्षु होने के नाते भगवान कभी ठहाका मार कर नहीं हँसते थे। कभी लंबे सुर में नहीं गाते थे। कोई वाद्य नहीं बजाते थे, नृत्य नहीं करते थे। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि वे नितांत शुष्क-हृदय मानव थे। हम देखते हैं कि वे कला के सहृदय पारखी थे।

जब देवपुत्र पंचशिख ने अपनी वीणा के सुर से सुर मिला कर गाया तो भगवान ने उसकी सराहना की।

भगवान काव्यकला के भी प्रेमी थे। वे स्वयं आशुकवि थे। बुद्धत्व प्राप्ति पर उनके प्रथम बोल पद्य में ही प्रस्फुटित हुए थे। जब लोग उनसे प्रश्न पूछते थे तो अनेक बार उनके उत्तर पद्य-बद्ध होते थे। कभी गद्य में बोलते तो साथ-साथ पद्य का भी प्रयोग कर लेते थे। उनकी अनेक शिष्य-शिष्याएं भी अपनी मुक्ति के उद्गार पद्य में ही प्रकट करती थीं। वंगीश और उदायी जैसे उनके अनेक शिष्य आशुकवि थे और भगवान उनकी आशुप्रणीत कविताएं प्रसन्नचित्त से सुनते थे।



हम एक दृश्य देखते हैं जबकि उनका ब्राह्मण शिष्य पिंगियानी भगवान की धर्म सभा में बैठा है। वह आशुकवि है। किसी प्रसंग को लेकर उसके मन में कविता के भाव उमड़ते हैं और वह भगवान से कहता है,

**पटिभाति मं, भगवा, पटिभाति मं, सुगत।**

– भगवान, मुझे एक कविता सूझती है। सुगत, कविता के लिए मेरी प्रतिभा जागती है।

पिंगियानी **पटिभाणवन्तु** है अर्थात प्रत्युत्पन्न प्रतिभासंपन्न है। जो शब्द उसके मन में उमड़ रहे हैं उन्हें वह कविता के रूप में सँजो कर सुनाना चाहता है। स्वयं एक कवि होने के कारण पद्य-प्रजनन की उसकी मधुर प्रसव-पीड़ा को भगवान खूब समझते हैं। अतः उसके मन में उमड़े भावों को पद्यबद्ध सुना देने की अनुमति देते हैं और मुदित मन से कहते हैं,

(अ० नि० २.५.१९५, पिङ्गियानीसुत्त)

**पटिभातु तं पिङ्गियानी**

– हे पिंगियानी, सूझे तुझे कविता! जागे तेरी प्रतिभा।

और पिंगियानी उस धर्म सभा में अपनी काव्य-स्फुरणा को जन्म देता हुआ एक पद्यबद्ध गीत सुनाता है। भगवान प्रसन्नचित्त से सुनते हैं।

भगवान लंबा सुर खींचकर शास्त्रीय ढंग से कभी नहीं गाते थे। परंतु समय-समय पर अपने आशुरचित पद्य सुरीले कंठ से अवश्य गाते थे। हम देखते हैं कि कुछ देर पहले उनका अनादर करने वाला भारद्वाज भगवान की गायी हुई धर्मवाणी सुन कर अत्यंत प्रभावित हो उठा है और उन्हें भोजन अर्पण करता है। भगवान उसे यह कह कर अस्वीकार कर देते हैं कि–

(सु० नि० ८१, कसिभारद्वाजसुत्त)

**गाथाभिगीतं मे अभोजनेय्यं**

– यानी गीत गाने से प्राप्त हुआ भोजन मेरे लिए अग्राह्य है।

भले अपने सिद्धांतों पर अटल रहने के कारण उन्होंने यह भोजन ग्रहण नहीं किया, लेकिन गीत तो गाया ही। आखिर गाने के लिए ही तो गाथा रची जाती है। भगवान ने अनुष्टुप छंद में ही गाथाएं नहीं रचीं, अन्य छंदों में भी पद्य प्रणीत किये। उनकी शिक्षा के पद्यबद्ध गीत उनके शिष्यों द्वारा अवश्य गाये जाते थे, इसीलिए उनकी शिक्षा के संकलन का एक अंग गेय

कहलाता था। हम देखते हैं कि जब स्थविर महाकात्यायन का शिष्य सोण भगवान के दर्शन के लिए अवंती से श्रावस्ती आया तब भगवान के कहने पर उसने भगवद्-वाणी के कुछ पद सुरीले कंठ से गा कर सुनाये और भगवान ने उसकी सराहना की।

भगवान प्रकृतिजन्य पेड़-पौधों, पर्वत, नदियों और पशु-पक्षियों से भरी वनस्थलियों के सौंदर्य के प्रशंसक तो थे ही, साथ- साथ मानव-निर्मित नगरों और वहां के बाग- बगीचों, वन-उद्यानों और चैत्यों आदि की रमणीयता के भी प्रशंसक थे। उन्होंने कहा–

**रमणीयं, आनन्द, राजगहं** – रमणीय है आनंद, राजगृह।

**रमणीयो गिज्झकूटो पब्बतो** – रमणीय है गृध्रकूट पर्वत।

**रमणीयो गोतमनिग्रोधो** – रमणीय है गौतम निग्रोध।

**रमणीयो चोरपपातो** – रमणीय है चोरप्रपात।

**रमणीया वेभारपस्से सत्तपण्णिगुहा** – रमणीय है वेभार पर्वत के पार्श्व में स्थित सप्तपर्णी गुहा।

**रमणीया इसिगिलिपस्से काळसिला** – रमणीय है ऋषिगिरि की कालशिला।

**रमणीयो सीतवने सप्पसोण्डिकपब्भारो** – रमणीय है शीतवन में सर्प-शौंडिक पठार।

**रमणीयो तपोदारामो** – रमणीय है तपोदाराम।

**रमणीयो वेळुवने कलन्दकनिवापो** – रमणीय है वेळुवन में कलंदकनिवाप।

**रमणीयं जीवकम्बवनं** – रमणीय है जीवक का आम्रवन।

**रमणीयो मद्दकुच्छिस्मिं मिगदायो** – रमणीय है मद्रकुक्षि का मृगदाय वन।

और फिर कहा–

**रमणीया, आनन्द, वेसाली** – रमणीय है, आनंद, वैशाली।

**रमणीयं उदेनं चेतियं** – रमणीय है उदयन चैत्य।

**रमणीयं गोतमकं चेतियं** – रमणीय है गौतमक चैत्य।

**रमणीयं सत्तम्बं चेतियं** – रमणीय है सताम्र चैत्य।



**रमणीयं बहुपुत्तं चेतियं** – रमणीय है बहुपुत्रक चैत्य।

**रमणीयं सारन्ददं चेतियं** – रमणीय है सारंदद चैत्य।

**रमणीयं चापालं चेतियं** – रमणीय है चापाल चैत्य।

(दी० नि० २.१८०,१८२, महापरिनिब्बानसुत्त)

## सौम्य विनोद

भगवान ने भिक्षुओं को आदेश दिया कि वे कभी ठहाका मार कर न हँसें। भिक्षुओं के लिए यह अशोभनीय था। उन्होंने कहा–

**कोमारकमिदं, भिक्खवे, अरियस्स विनये यदिदं अतिवेलं दन्तविदंसकहसितं**

– भिक्षुओ, यह जो देर तक दांत निपोर कर हँसना है यह आर्यविनय के अनुसार बचपना है।

**अलं वो धम्मप्पमोदितानं सतं सितं सितमत्ताय।** –

(अ० नि० १.३.१०८, रुण्णसुत्त)

संत पुरुषों के लिए धर्म-प्रमोद में मुस्कराना मात्र ही पर्याप्त है। इसलिए न तो भगवान हँसते थे, न हंसी- मजाक करते थे, न ठिठोली-दिल्लगी; परंतु यदा-कदा मुस्कराते हुए यथा आवश्यक मानवीय विनोद का प्रयोग अवश्य कर लेते थे।

कुछ एक उदाहरण हमारे सामने हैं–

कोशलेश प्रसेनजित भगवान से मिलने आया। राजमहल से चलते समय सोमा और सकुला दोनों बहनों ने प्रसेनजित से निवेदन किया कि भगवान के चरणों में उनका वंदन कहें और उनकी ओर से भगवान का कुशल मंगल पूछें।

प्रसेनजित भगवान के पास पहुँचा और वंदन करके एक ओर बैठ गया। तब उन दोनों बहनों का निवेदन उसने भगवान के सामने प्रकट किया। भगवान ने दोनों बहनों के लिए आशीर्वचन कहे।–

**सुखिनियो होन्तु ता महाराज, सोमा च भगिनी, सकुला च भगिनी।**

– हे महाराज, सोमा और सकुला दोनों बहनें सुखी हों।

परंतु इस घटना पर विनोद-भरी चुटकी लेते हुए भगवान ने प्रसेनजित से पूछ लिया –

**किं पन महाराज, सोमा च भगिनी सकुला च भगिनी अञ्ञं दूतं नालत्थुं?**

(म० नि० २.३७६, कण्णकत्थलसुत्त)

– महाराज, क्या सोमा और सकुला दोनों बहनों को अन्य कोई दूत नहीं मिला?

धर्मदेशना के लिए भगवान खूब जन- संपर्क करते थे। परंतु महज दर्शन के लिए आये हुए, हल्ला-गुल्ला करने वाले लोगों के लिए वे अपना समय और श्रम नष्ट नहीं किया चाहते थे। लेकिन उनकी प्रसिद्धि इतनी फैल गयी थी कि केवल विहारों में ही नहीं, बल्कि उनकी यात्रा में भी लोगों की भीड़ साथ रहने लगी थी। यह उन्हें बिल्कुल पसंद नहीं था। तभी उन्होंने कहा कि हे नागित, जिस समय मैं मार्ग पर चलता हूं, और मुझे आगे या पीछे कोई नहीं दीखता, उस समय मुझे अच्छा लगता है।

भगवत्सान्निध्य के लोभी भक्तों को यह आदेश अच्छा नहीं लगा होगा। अतः इस आदेश के कारण वातावरण में पैदा हुए तनाव को दूर करने के लिए भगवान ने विनोद में कहा, –

**अन्तमसो उच्चारपस्सावकम्माय।** (अ० नि० ३.८.८६, यससुत्त)

– (यह एकांत यात्रा और किसी कारण नहीं तो कम से कम) मल-मूत्र त्यागने की सुविधा के लिए (ही आवश्यक है)।

## उपदेशों की सरसता

भगवान के हृदय से करुणा की जाह्नवी बहती रहती थी। उनके रोम-रोम से मैत्री की ऊर्मियां तरंगित होती रहती थीं। उनके शब्द-शब्द से धर्म का अमृतरस चूता था। वे लोकमंगल के लिए ही उपदेश देते थे। लोगों के समझ सकने योग्य उपमाओं और उदाहरणों से उनकी धर्मदेशनाएं भरी रहती थीं।



उपमा इसीलिए देते थे जिससे लोग धर्म को भली-भांति समझ सकें। इसीलिए उन्होंने कहा –

**तेन हावुसो, उपमं ते करिस्सामि** – तो आयुष्मान, मैं तुम्हें उपमा देता हूं;

**उपमायपिधेकच्चे विञ्ञू पुरिसा भासितस्स अत्थं आजानन्ति।**

(म० नि० १.४५६, महावेदल्लसुत्त)

– उपमा से भी कोई-कोई समझदार व्यक्ति कहे हुए का अर्थ समझ जाते हैं।

अविद्या के अंधकार में मदहोश पड़े लोगों को जगाने के लिए भगवान कभी-कभी ऐसी उपमाओं का भी प्रयोग करते थे जिनमें विनोद के साथ-साथ चेतावनी की व्यंग्यभरी चुटकियों का भी समावेश होता था, जिनसे कि सुनने वालों का होश जागे।

उन दिनों भोली-भाली जनता को ठगने के लिए नाना प्रकार के आडंबर और पाखंड चलते थे। नाना प्रकार की ठग-विद्याएं चलती थीं। कुछ लोग हाथ में कमंडल लिए हुए, गले में माला पहने हुए, सुबह-शाम पानी में डुबकी लगाकर अग्नि की परिचर्या करने वाले इस प्रकार की वेष-भूषा और कर्मकांडों का दिखावा करके लोगों को ठगते थे। वे इस बात का दावा करते थे कि वे मरे हुए प्राणी (की आत्मा) को बुला कर उसे स्वर्ग में भेज देते हैं।

यह सुन कर असिबंधकपुत्र ग्रामणी भगवान के पास आया और कहने लगा कि जब ऐसे-ऐसे सामान्य-साधारण लोग इतना कुछ कर सकते हैं तो आप सम्यक संबुद्ध हैं; सारे विश्व में जो मरें, आप अवश्य उन्हें स्वर्ग भेज सकते हैं।

भगवान ने कहा कि यह असंभव है। कोई किसी को न स्वर्ग भेज सकता है, न नरक। कोई व्यक्ति मर कर अपने सत्कर्मों से ही स्वर्गगामी होता है और अपने दुष्कर्मों से ही नरकगामी।

अपने कथन को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने ग्रामणी से पूछ लिया कि मानो किसी गहरे तालाब में एक भारी-भरकम शिला डाल दी गयी हो और

कुछ लोग उस तालाब के तट पर आकर हाथ जोड़ कर प्रार्थना करते हुए बोलें -

**उम्मुज्ज, भो पुथुसिले** - हे पृथुल शिला, तुम पानी से बाहर निकलो।

**उप्लव, भो पुथुसिले** - हे पृथुल शिला, तुम तैरने लगो।

**थलमुप्लव, भो पुथुसिले** - हे पृथुल शिला, तुम तैर कर इस तटवर्ती स्थल पर आ जाओ।

तो क्या तुम मानते हो कि वह पृथुल शिला पानी से निकल कर तैरने लगेगी और तट के पास चली आयेगी?

इसी प्रकार मानो घी या तेल और कंकर- पत्थर से भरे घड़े को तालाब में डुबो कर फोड़ दे और उसमें जो कंकर-पत्थर हों वे तो नीचे डूबे रह जायँ परंतु जो घी या तेल हो वह ऊपर पानी पर तैरने लगे। तब कोई हाथ जोड़ कर प्रार्थना करे और कहे -

**ओसीद, भो सप्पितेल** - हे घी-तेल, तुम डूब जाओ।

**संसीद, भो सप्पितेल** - हे घी-तेल, तुम तह में चले जाओ।

**अधो गच्छ, भो सप्पितेल** - हे घी-तेल, तुम नीचे चले जाओ।

(सं० नि० २.४.३५८, असिबन्धकपुत्तसुत्त)

तो क्या तुम मानते हो कि इन प्रार्थनाओं से वह घी-तेल डूब जायेगा, नीचे तह में चला जायेगा?

इन उपमाओं के कारण ग्रामणी को सच्चाई समझते देर नहीं लगी।

## प्रार्थनाएं निरर्थक

प्रार्थनाओं की निरर्थकता की यह सच्चाई भगवान को बार-बार समझानी पड़ी। इसे ही उन्होंने एक बार अनाथपिंडिक को भी समझाया। उन्होंने कहा, आयु, वर्ण, सुख, यश और स्वर्ग सभी को अच्छे लगते हैं। सब के लिए अभीष्ट हैं। परंतु इन्हें प्राप्त करने के लिए धर्म का अनुसरण करना अनिवार्य होता है। इसी से ये मनोरथ पूर्ण होते हैं। महज याचनाओं और प्रार्थनाओं से इन कामनाओं की पूर्ति नहीं होती।



**इमेसं, खो, गहपति, पञ्चन्नं धम्मानं** - गृहपति, ये पांच बातें हैं,

**इट्ठानं कन्तानं मनापानं** - जो कि अभीष्ट हैं, सुंदर हैं, मनभावनी हैं,

**दुल्लभानं लोकस्मिं** - जो कि संसार में दुर्लभ हैं।

**न आयाचनहेतु वा** - न याचना करने से,

**पत्थनाहेतु वा पटिलाभं** - न प्रार्थना करने से इनकी प्राप्ति होती है,

**वदामि** - ऐसा मैं कहता हूं।

भगवान इस बात को दावे के साथ कहते रहे कि प्रार्थनाएं और याचनाएं फलदायिनी नहीं होतीं। यदि होतीं तो -

**को इध केन हायेथ** - यहां कौन किस मनोरथ से वंचित रहता?

(अ० नि० २.५.४३, इट्ठसुत्त)

प्रार्थना करना कितना आसान है। सभी करते हैं। प्रार्थना करने मात्र से इच्छाएं कहां पूरी होती हैं?

## धर्महीन भिक्षु

भगवान के लिए न कोई अपना था, न पराया। उनकी धर्म-देशना सब के लिए थी। जो धर्म धारण तो करे नहीं, पर धार्मिक होने का दिखावा करे वह औरों को तो ठगता ही है परंतु प्रथमतः और प्रमुखतः अपने आप को ठगता है। अपनी बहुत बड़ी हानि करता है। भगवान ऐसे लोगों को कड़ी चेतावनी देते रहते थे।

भगवान की शिक्षा जैसे-जैसे लोकप्रिय होती चली गयी, वैसे-वैसे उनके संघ में भिक्षुओं की संख्या भी बढ़ती चली गयी। उनमें से अधिकांश तो गंभीर मुमुक्षु थे और निष्ठाभाव से भगवान के बताये मार्ग पर चल कर शील, समाधि और प्रज्ञा का अभ्यास करते रहते थे। पर कुछ ऐसे लोग भी संघ में आ गये थे जिनका बाहरी दिखावा तो भिक्षु का सा था परंतु उनके भीतर धर्म का नामोनिशान नहीं था। वे धर्मप्रतिपन्न भिक्षुओं की भांति समाज में आदर पाने के लिए आतुर रहते थे और संघ में सम्मिलित होने का लाभ उठाना चाहते थे। ऐसे भिक्षुओं को लक्ष्य करके ही भगवान ने कहा -

**सेय्यथापि, भिक्खवे, गद्रभो गोगणं पिट्ठितो पिट्ठितो अनुबन्धो होति** – भिक्षुओ, जैसे कोई गधा गाय-बैल के समूह के पीछे-पीछे हो ले और गर्दभनाद करता हुआ यह बोले –

**अहम्पि दम्मो, अहम्पि दम्मो** – मैं भी (इन्हीं की भांति) दम्य हूं, मैं भी पालतू हूं।

इसी प्रकार –

**एवमेवं खो, भिक्खवे, इधेकच्चो भिक्खु** – भिक्षुओ, इसी प्रकार कोई (अधार्मिक) भिक्षु

**भिक्खुसङ्घं पिट्ठितो पिट्ठितो अनुबन्धो होति** – (धर्मविहारी) भिक्षुसंघ के पीछे-पीछे हो लेता है

और लोगों पर इस बात की झूठी छाप डालने की चाह से बोलता है –

**अहम्पि भिक्खु, अहम्पि भिक्खु** – मैं भी भिक्षु हूं, मैं भी भिक्षु हूं।

(अ० नि० १.३.८३, गद्रभसुत्त)

मैं भी भिक्षु हूं, कहने मात्र से कोई भिक्षु नहीं हो जाता।

## धर्मवाणी का दुरुपयोग

भवसागर से पार उतरने के लिए भगवान धर्म सिखाते थे। कोई व्यक्ति धर्म धारण कर मुक्ति के लिए उसका सदुपयोग तो करे नहीं, प्रत्युत अर्थ समझे बिना बुद्धवाणी को कंठस्थ करके धर्म की नेतागिरी करने में और सांसारिक लाभ प्राप्त करने में उसका दुरुपयोग करे तो ऐसे मूर्ख व्यक्ति के लिए धर्म अहित का कारण बनता है, हानि का कारण बनता है।

**तेसं ते धम्मा दुग्गहिता दीघरत्तं अहिताय दुक्खाय संवत्तन्ति** – धर्म को गलत तरीके से ग्रहण करने के कारण ऐसे लोगों के लिए वह दीर्घ काल तक अहित और दुःख का कारण बनता है।

उदाहरण देते हुए भगवान ने समझाया कि कोई नासमझ व्यक्ति किसी सांप को उसकी गर्दन से न पकड़ कर पूंछ या पीठ से पकड़ने का प्रयत्न करे और सांप पलट कर उसे डँस ले, तो –



**सो ततोनिदानं** – वह इस कारण,

**मरणं वा निगच्छेय्य मरणमत्तं वा दुक्खं** – मरण या मरणसदृश दुःख भोगता है।

(म० नि० १.२३८, अलगद्दूपमसुत्त)

## पार उतरने के लिए धर्मरूपी बेड़ा

इसी प्रसंग में भगवान ने समझाया कि,

**कुल्लूपमं वो, भिक्खवे, धम्मं देसेस्सामि।**

– भिक्षुओ, मैं तुम्हें जो धर्म उपदेशता हूं, वह बेड़े के समान है।

**नित्थरणत्थाय** – निस्तरण यानी पार उतरने के लिए,

**नो गहणत्थाय** – पकड़ रखने के लिए नहीं।

कोई व्यक्ति केवल मुक्ति के उद्देश्य से धर्म धारण नहीं करता बल्कि नासमझी से उसे एक संप्रदाय बना कर उसके प्रति आसक्त हो जाता है तो अपनी हानि कर लेता है। आसक्ति तो आसक्ति है। बड़ी खतरनाक है। चाहे वह धर्म के प्रति ही क्यों न हो। मुमुक्षु व्यक्ति को अधर्म के प्रति ही नहीं, धर्म के प्रति भी आसक्ति त्यागनी होती है। भगवान ने उदाहरण देकर समझाया –

जैसे कोई व्यक्ति बेड़े का उपयोग कर पार उतर जाय, परंतु उस बेड़े के प्रति उसका गहरा ममत्व हो, गहरी आसक्ति हो तो पार उतर कर उसके मन में यह भाव जागे –

**बहुकारो खो मे अयं कुल्लो...** – यह बेड़ा मेरा बड़ा उपकारी रहा है...

**यंनूनाहं इमं कुल्लं** – क्यों न मैं इस बेड़े को

**सीसे वा आरोपेत्वा** – सिर पर रख कर

**खन्धे वा उच्चारेत्वा** – अथवा कंधे पर उठा कर

**येन कामं पक्कमेय्यं।**

– जहां जाने की इच्छा हो वहां (इसे यों कंधे या सिर पर उठा कर) चला जाऊं?

इस उदाहरण द्वारा भगवान ने आगे समझाया –

**कुल्लूपमं वो, भिक्खवे, धम्मं देसितं आजानन्तेहि**
– धर्म को बेड़े की तरह उपदेशा हुआ जान कर

**धम्मापि वो पहातब्बा** – धर्म को भी (अनासक्त रह कर) त्याग दे,

**पगेव अधम्मा** – अधर्म की तो बात ही क्या?

(म० नि० १.२४०, अलगद्दूपमसुत्त)

इसी उदाहरण को सामने रख कर अन्य एक प्रसंग में भगवान ने फिर समझाया।

भगवान जानते थे कि लोग मिथ्या दार्शनिक मान्यताओं के प्रति किस प्रकार आसक्त हो जाते हैं। कहीं सम्यक दर्शन के प्रति भी इसी प्रकार आसक्त हो कर अपनी हानि न कर लें। इसलिए चेतावनी दी–

**इमं चे तुम्हे, भिक्खवे, दिट्ठिं** – भिक्षुओ, तुम (इस सम्यक) दृष्टि के प्रति भी, जो कि

**एवं परिसुद्धं** – ऐसी परिशुद्ध है,

**एवं परियोदातं** – ऐसी निर्मल है,

**न अल्लियेथ** – आसक्त मत हो जाना।

जो आसक्त हो जाता है, वह उसे बुद्धि-रंजन का विषय बना लेता है। अतः कहा–

**न केलायेथ** – न उससे बुद्धि-किलोल करना।

जिससे बुद्धिरंजन करता है, वह बड़ा प्रिय लगने लगता है, बड़ा मूल्यवान लगने लगता है। तभी कहा–

**न धनायेथ** – न इसे (अपनी) धन-संपदा बना लेना।

ऐसा करने पर और अधिक अपनत्व का भाव, ममत्व का भाव जागने लगता है। तभी कहा–

**न ममायेथ** – इसके प्रति ममत्व न जगा लेना।

अन्यथा 'मैं-मेरे' का भाव प्रबल हो जायेगा। पार उतारने वाला यह सम्यक दर्शन भी सांप्रदायिक दर्शन बन कर सिर का बोझ बन जायगा। तभी फिर समझाया–



**अपि नु मे तुम्हे, भिक्खवे, कुल्लूपमं धम्मं देसितं आजानेय्याथ**
– अतः भिक्षुओ, मेरे द्वारा उपदेशित धर्म को एक बेड़े की भांति समझना चाहिए।

**नित्थरणत्थाय, नो गहणत्थाय।** (म० नि० १.४०१, महातण्हासङ्खयसुत्त)
– पार उतरने के लिए है, न कि (आसक्त हो कर) पकड़े रखने के लिए।

## अन्य मार्मिक उपमाएं

ऐसी मर्मस्पर्शी उपमाओं से भरे हुए भगवान के व्यंग्यात्मक उपदेश अनेक हैं। इनमें से कुछ एक उपमाओं को हम पहले भी देख आए हैं। जैसे कि–

- तुम अनजानी और अनदेखी जनपद कल्याणी को पाने के लिए आतुर हो।
- तुम अनजाने और अनदेखे महल पर चढ़ने के लिए सीढ़ी लगाना चाहते हो।
- चांद और सूरज जो प्रत्यक्ष दीखते हैं, उन तक तुम पहुँच नहीं पाते। परंतु जिस ब्रह्मा को तुम देखते नहीं, जानते नहीं, उस तक पहुँचना चाहते हो?
- जिसको न आगे वालों ने देखा, न बीच वालों ने देखा, न पीछे वालों ने देखा; उसे पाने के लिए अंधों की कतार सदृश चले जा रहे हो।
- तुम्हारी प्रार्थना से नदी के उस पार का तट इस पार आने वाला नहीं है।
- तुम्हारे दोनों हाथ पीछे की ओर सांकल से बँधे हैं और तुम नदी के परले तट तक पहुँचना चाहते हो।
- तुम नदी के इस तट पर चादर ताने सोये हो और परले तट तक पहुँचना चाहते हो। (दी० नि० १.५४०-५४५, तेविज्जसुत्त)

जिसके शरीर में जहरीला बाण लगा हो, वह बाण निकाल कर वैद्य को उपचार तो करने नहीं दे अपितु यह जानना चाहे कि इस तीर को चलाने वाला कौन है? उसने यह तीर कैसे बनाया? किन उपकरणों से बनाया? आदि-आदि। ऐसा व्यक्ति अपनी जिज्ञासा-पूर्ति किए बिना ही मर जायेगा।

## कल्याणकारी व्यंग

हम भगवान के ऐसे अनेक व्यंग्यभरे प्रवचन देखते हैं। परंतु यह भी देखते हैं कि इन व्यंग्य वाक्यों में कहीं कटुता नहीं है। भगवान का स्पष्ट उद्देश्य लोक-कल्याण ही था। उनका अपना कोई निजी स्वार्थ नहीं था। भगवान बड़े करुणचित्त से चाहते थे कि जो लोग मिथ्या जंजालों में उलझे हुए हैं और परिणामतः व्यथा-विह्वल हो कर छटपटा रहे हैं वे इन दुःखों से बाहर आएं। जो कोमल शब्दावली की भाषा नहीं समझ पाते, उनके लिए कठोर वाणी का प्रयोग आवश्यक था। परंतु ऐसी अवस्था में भगवान का हृदय करुणा से भरा रहता था। जैसे उत्तान लेटे शिशु के मुँह में कोई कंकड़ चला जाय तो उसके मुँह में उँगली डाल कर भी वह कंकड़ निकालना होता है, भले इससे उसे कष्ट हो, क्योंकि इसी में उसकी भलाई है। इसी प्रकार घोर अविद्या के नशे में सोये हुए व्यक्ति के लिए कठोर शब्दों वाली चाबुक की फटकार अपेक्षित है, जिससे कि वह तिलमिला कर जाग उठे और दुःख-विमुक्ति के मार्ग पर चल पड़े। भगवान का हृदय अनुकंपा से लबालब भरा रहता था। उनके समस्त वचनों का आधार अनुकंपा ही होती थी। उनके उपदेश लोक- कल्याण के लिए ही होते थे।

भगवान और किसलिए धर्म का उपदेश देते भला! क्या इसमें उनका कोई स्वार्थ निहित था? जब तक वे बोधिसत्त्व थे, तब तक तो धर्म का जीवन जीते हुए इसलिए लोक-कल्याण करते थे जिससे कि उनकी अपनी पुण्य पारमी पूर्ण हो ताकि वे सम्यक संबोधि प्राप्त कर सकें। परंतु संबोधि प्राप्त कर पूर्ण विमुक्त हो जाने के बाद उन्हें और क्या चाहिए था? अब तो



सारा जीवन करुणा से भर गया था और मैत्री मानस का स्वभाव बन गयी थी। उनके सारे कर्म मैत्री और करुणा के आधार पर होते थे।

**अनुकम्पको भगवा हितेसी** - भगवान अनुकंपक हैं यानी महाकारुणिक हैं, लोकहितैषी हैं।

**अनुकम्पं उपादाय धम्मं देसेति** - अनुकंपा करके धर्म उपदेशते हैं।

(म० नि० ३.३४, किन्तिसुत्त)

लोक-कल्याण के लिए ही भगवान सम्यक संबुद्ध हुए थे। इसीलिए उनके प्रिय शिष्य आशुकवि वंगीश ने ठीक ही कहा,

**बहूनं वत अत्थाय, उप्पज्जन्ति तथागता** - बहुतों की अर्थसिद्धि के लिए, उनके हित के लिए तथागत उत्पन्न होते हैं। (थेरगा० १२६५, वङ्गीसत्थेरगाथा)

इसी प्रकार अपना दूध पिला कर उन्हें पालने पोसने वाली और उनके लोककल्याणमय जीवन को अत्यंत निकट से देखने वाली महाप्रजापती गौतमी ने हर्ष के उद्गार प्रकट करते हुए कहा-

**बहूनं वत अत्थाय, माया जनयि गोतमं।**

(थेरीगा० १६२, महापजापतिगोतमीथेरीगाथा)

- बहुतों के कल्याण के लिए महामाया ने गौतम को जन्म दिया है।

सचमुच उनका पैंतालीस वर्षों का संबुद्ध- जीवन अत्यंत करुणचित्त से लोक-कल्याण में ही बीता। उनकी इस कारुण्यचर्या की सुरभि से सारा तिपिटक गमक रहा है। कितने प्रसंग गिनाएं?

संबोधि प्राप्त कर करुणा विगलित हो, जब उन्होंने सद्धर्म बांटने का निश्चय किया तब उनके मन में अपने पूर्व आचार्य आलारकालाम और उद्दक रामपुत्त के प्रति कृतज्ञता का भाव जागा और योग्य पात्र समझ कर पहले उन्हें ही याद किया।

परंतु उनकी शरीर-च्युति हो गयी जान कर अपने पांच साथियों की सेवा याद कर सर्वप्रथम उन्हें ही बड़े करुणचित्त से धर्म का दान दिया।

जिस सुजाता ने संबोधि के पूर्व खीर खिलायी, उसके दुखियारे पुत्र यश को और स्वयं सुजाता सहित यश की पत्नी और पिता को अत्यंत करुणचित्त से धर्म का प्रतिदान दिया।

तदुपरांत यह कल्याणी करुणा की धारा दूर-दूर तक प्रवहमान होती चली गयी। ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र या अन्य अंत्यज, राजा हो या प्रजाजन, अमीर हो या गरीब, पुरुष हो या नारी, सब के लिए मुक्ति का दरवाजा खुल गया।

दुखियारी पटाचारा हो या किसा गोतमी, नगरवधू अंबपाली हो या मगध-महिषी खेमा, हत्यारा अंगुलिमाल हो अथवा राजपुत्र सीलवा, भगवान की करुणा सब के लिए एक जैसी उमड़ी। सब को एक जैसा लाभ मिला।

ब्राह्मण सारिपुत्त हो या भंगी सुनीत, जटिल काश्यपबंधु हों या चांडालपुत्र सोपाक, शाक्य राजा भद्दिय हो या उपालि नाई; भगवान बुद्ध की करुणा ने किसी के प्रति भेद-भाव नहीं किया।

उनकी प्रशंसा-प्रशस्ति में अपनी काव्यकला को सफल बनाने वाला वंगीश हो, या उदायी, उनके गुण गाने वाला देवेंद्र शक्र हो या ब्रह्मा सनत्कुमार अथवा उन्हें **भूनहा** (भ्रूण-हत्यारा) पापी, नीच, वृषल, मुण्डक, इभ्य, ब्रह्मा के पांव से जन्मा, शूद्र आदि कह कर उनका अनादर करने वाला कोई अंबष्ठ जैसा जाति-मदांध अहंकारी माणवक हो, भगवान की करुणा सब पर एक समान बरसी।

उनके पावन चरित्र पर कलंक लगाने वाली चिंचा हो या सुंदरी, उनकी हत्या का असफल प्रयत्न करने वाला देवदत्त हो अथवा उसे शह देने वाला अजातशत्रु, उनके पांव पूजने वाला महाराज प्रसेनजित हो या बिंबिसार; भगवान की करुणा का प्रवाह सबके लिए समान था।

जब पड़ोसी शाक्य और कोलिय रोहिणी नदी के जल के लिए मूल्यवान मानवी खून बहाने पर तत्पर हो गये और युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गये तब भगवान ने दोनों पर करुणा की वर्षा करके उनके द्वेषानल को शांत किया।



जब विडूडभ शाक्यों का नाश करने के लिए सेना सहित कपिलवस्तु की ओर बढ़ रहा था तब शाक्यों की रक्षा के लिए और विडूडभ को इस घोर अपराध से बचाने के लिए भगवान दोपहर की चिलचिलाती धूप में मार्ग के एक पत्र विहीन पेड़ के तले जा बैठे और भले कुछ समय के लिए ही सही, अपने करुण चित्त से इस दुर्घटना को रोकते रहे।

अपने पुत्र और पुत्रियों सदृश भिक्षुओं और भिक्षुणियों के प्रति उनका वात्सल्य उमड़ा पड़ता था। वे इस बात का ध्यान रखते थे कि विहार के सभी भिक्षु, भिक्षुणियों को भोजन मिल गया है या नहीं?

दूर से यात्रा करके लौटे हुए किसी भिक्षु से भगवान मिलते थे तो पिता का-सा वात्सल्य लिए हुए उससे पूछते थे कि क्या वह क्षेमपूर्वक तो है? कुशलपूर्वक तो है? उसे रास्ते में थकावट तो नहीं हुई? भिक्षा मिलने में कोई कठिनाई तो नहीं हुई? (उदा० ४६, सोणसुत्त)

चुल्लपंथक को मंदबुद्धि कह कर जब विहार से निकाल दिया गया तब उस रोते हुए धर्मपुत्र के सिर पर करुणा का हाथ फेरते हुए भगवान उसे पुनः विहार में ले आये और बड़े प्यार से साधना का स्थूल आलंबन दे कर उसके भिक्षु जीवन की सफलता में सहायक बन गये।

कोई भिक्षु बीमार पड़ जाय तो भगवान उसका कुशल-क्षेम पूछने स्वयं उसके पास जाते थे। रोगी भिक्षु उन्हें आया देख कर उनके सम्मान में खटिया से उठना चाहता तो उसे रोकते थे, लेटे रहने का निर्देश देते थे और स्वयं पास बिछे एक आसन पर बैठ कर करुणासिक्त वाणी से धर्ममयी सांत्वना के दो बोल बोलते थे।

जब एक भिक्षु को अत्यंत रुग्ण अवस्था में अपने मल-मूत्र में लिपटे हुए पड़ा देखा तब करुणा-विह्वल हो स्वयं उसके शरीर को गर्म पानी से धोया और पोंछा। वे भिक्षुओं को रुग्ण अवस्था में एक-दूसरे की सेवा करने के लिए प्रोत्साहित करते थे और कहते थे–

**यो, भिक्खवे, मं उपट्ठहेय्य** – भिक्षुओ, जो मेरी सेवा करना चाहे,

**सो गिलानं उपट्ठहेय्य** – वह रोगी की सेवा करे।

(महाव० ३६५, गिलानवत्थुकथा)

एक ओर अपने धर्मपुत्र और धर्मपुत्रियों के प्रति इतना वात्सल्यभाव भरा हुआ था, दूसरी ओर महापरिनिर्वाण का समय आने पर अत्यंत अनासक्तभाव से कहा–

**तथागतस्स खो, आनन्द, न एवं होति** – आनंद, तथागत को ऐसा नहीं होता कि

**अहं भिक्खुसङ्घं परिहरिस्सामीति** – मैं भिक्षुसंघ को धारण करता हूं,

**वा ममुद्देसिको भिक्खुसङ्घोति वा** – अथवा भिक्षुसंघ मेरे कारण से है।

भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों को यही सिखाया।

**अत्तदीपा विहरथ... धम्मदीपा...**

– हर व्यक्ति स्वयं अपने आप का ही आसरा ले, अपनी ही शरण ग्रहण करे, अपने भीतर जागे हुए धर्म की ही शरण ग्रहण करे; किसी अन्य की नहीं। तभी कहा–

**अत्तसरणा... धम्मसरणा... अनञ्ञसरणा।**

(दी० नि० २.१६५, महापरिनिब्बानसुत्त)

उनकी शिक्षा का अंतिम लक्ष्य यही था कि साधक उस अवस्था पर पहुँच जाय, जहां वह–

**अनिस्सितो च विहरति** – (किसी अन्य पर) आश्रित हुए बिना विहार करता है और,

**न च किञ्चि लोके उपादियति।** (दी० नि० २.३७५, महासतिपट्ठानसुत्त)

– संसार के प्रति रंचमात्र भी आसक्ति नहीं रखता।

ऐसे थे स्वाश्रित स्वावलंवी शिष्य और ऐसे थे निःस्पृह निस्संग शास्ता। वे एक दूसरे पर आश्रित क्यों होते भला? नितांत अनासक्त रहते हुए भी भगवान का हृदय मैत्री, करुणा और वात्सल्य भाव से सतत ओतप्रोत रहता था।



उनका वात्सल्यभाव केवल अपने भिक्षुसंघ के प्रति ही नहीं था। अन्य सभी गृहत्यागियों के प्रति भी वही कारुण्यभाव था। जब अकाल पड़ता था तब भगवान के विहार में भोजन की कमी नहीं रहती थी, पर अन्य संन्यासियों को खाने के लाले पड़ जाते थे। ऐसे समय भगवान अत्यंत करुणचित्त से उनके भोजन की व्यवस्था अपने विहार में करते थे।

किसी किसान का बैल खो जाने के कारण वह भगवान की धर्म सभा में विलंब से पहुँचा। भगवान उसकी प्रतीक्षा करते रहे। आने पर पहले उसे भोजन खिलाने की व्यवस्था करवायी और भोजन के बाद ही धर्मोपदेश दिया। यह सच है कि–

**जिघच्छा परमा रोगा** – भूखा आदमी रोगी ही है। ऐसी अवस्था में वह धर्म क्या सुनेगा? क्या समझेगा? और क्या पालेगा? अतः उनके महाकारुणिक हृदय का पहला निर्णय यही हुआ कि इस भूखे व्यक्ति को भोजन कराया जाय।

बोधि राजकुमार ने भगवान की अगवानी में महल की सीढ़ियों पर गलीचे बिछवाये। भगवान ने उन पर पांव नहीं रखा। उनके मन में भावी जनता पर करुणा उमड़ी। कहीं भविष्य के धर्माचार्य अपने शिष्यों पर ऐसे ठाट-बाट के प्रदर्शन का बोझ न डालने लगें।

महापरिनिर्वाण समीप था। श्रद्धालु उपासक चुंद लुहार ने भगवान को भोजन के लिए आमंत्रित किया। भगवान ने देखा कि उसका भोजन स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। आहार ग्रहण योग्य नहीं है। अपने साथी भिक्षुओं को ऐसा भोजन ग्रहण करने से रोका पर उन्होंने स्वयं उस भोजन को ग्रहण किया और अतिसार के रोग के कारण मरणासन्न पीड़ा भुगतते रहे। यह महज इसलिए कि महापरिनिर्वाण के पूर्व का भोजन सम्यक संबुद्ध का अंतिम भोजन होता है। उस भोजन का दान बोधिसत्त्व को दिये गये अंतिम भोजन के दान सदृश अत्यंत फलदायी होता है। भोजन अखाद्य है तो भी उपासक के प्रति करुणा जागी कि कहीं वह इस अपूर्व दान के फल से वंचित न रह जाय! अतः शरीर के लिए हानिकारक होते हुए भी उसे ग्रहण किया।

आगे की यात्रा में कष्ट बढ़ा। कुसीनारा पहुँचते-पहुँचते चुंद का ध्यान आया तो मन में यह विचार उठा कि कहीं उसे यह पश्चाताप न हो कि भगवान उसका भोजन ग्रहण करके महापरिनिर्वाण को प्राप्त हुए। उसके प्रति अपार करुणा उमड़ी। अतः आनंद को आदेश दिया कि वह चुंद को समझाये कि यह भोजनदान उसके लिए महापुण्यशाली रहा।

महापरिनिर्वाण के कुछ ही समय पहले आए हुए सुभद्र को जब आनंद ने रोका तो भगवान ने अपनी असुविधा का ख्याल नहीं किया। उनके मानस में करुणामयी गंगा की बाढ़ आ गयी। उन्होंने आनंद को आदेश देकर सुभद्र को पास बुलवाया और उसे धर्मोपदेश दिया। धर्मोपदेश देने के लिए भगवान के लिए कोई भी समय, असमय नहीं था।

महाकारुणिक भगवान बुद्ध के मार्मिक जीवन-प्रसंगों से सारा तिपिटक भरा पड़ा है। सज्जनता, सौम्यता और विनम्रताभरे मानवी गुणों के भगवान जीवंत आदर्श थे।

तब तक वे बहुत लोकविश्रुत और लोकप्रिय हो चुके थे, परंतु फिर भी किसी से मिलते थे तो अत्यंत विनम्रभाव से। भार्गव कुम्हार से एक रात उसकी धर्मशाला में टिकने की अनुमति मांगते हुए उन्होंने कहा–

**सचे ते, भग्गव, अगरु विहरेमु आवेसने एकरत्तं?**

– हे भार्गव, तुम्हें भार तो नहीं लगेगा, यानी तुम्हें कष्ट तो नहीं होगा, यदि मैं तुम्हारे निवास स्थान में एक रात रह लूं?

इसी प्रकार उस धर्मशाला में पहले से टिके हुए भिक्षु से पूछा–

**सचे ते, भिक्खु, अगरु विहरेमु आवेसने एकरत्तं?**

(म० नि० ३.३४२, धातुविभङ्गसुत्त)

हे भिक्षु, तुम्हें भार तो नहीं लगेगा, यानी तुम्हें कष्ट तो नहीं होगा, यदि मैं इस निवास स्थान में एक रात रह लूं?

वेरंजा के ब्राह्मण ने भगवान को अपने गांव में वर्षावास के लिए आमंत्रित किया। भगवान भिक्षुसंघ के साथ वहां पहुँचे तो वेरंजा ब्राह्मण भगवान को दिये गये अपने आमंत्रण को भूल गया। उन दिनों वेरंजा गांव



में बड़ा भीषण अकाल पड़ा हुआ था। अतः भगवान और उनके भिक्षु संघ को वेरंजा ब्राह्मण ने ही नहीं बल्कि गांव के किसी भी व्यक्ति ने भिक्षा नहीं दी। वर्षावास के पूरे समय वे वहां टिके हुए घोड़े के व्यापारियों से केवल जौ के दाने दानस्वरूप प्राप्त करते थे, उन्हें ही कुटवा-पिसवा कर पानी में घोल कर पीते थे। इतना होने पर भी वर्षावास के बाद वेरंजागांव छोड़ कर जाने लगे तो करुणाभरी सौजन्यतावश वेरंजा ब्राह्मण से विदाई लेने के लिए पहुँचे और उसके हित में धर्म का मंगल उपदेश दिया।

भरा पड़ा है तिपिटक भगवान के ऐसे मानवी सद्गुणों से। कोई कहां तक गुण गाये? फिर भी यथाशक्ति गुण गाने को जी चाहता ही है। वैसे ही जैसे कि श्रद्धाविभोर गृहस्थ उपासक उपालि ने अपने मनोभाव प्रकट करते हुए कहा–

**एवमेव खो, भन्ते, सो भगवा अनेकवण्णो अनेकसतवण्णो** – उसी प्रकार, भंते, वे भगवान अनेक प्रशंसनीय गुण वाले हैं, अनेक सौ प्रशंसनीय गुण वाले हैं।

**को हि, भन्ते, वण्णारहस्स वण्णं न करिस्सति।**

(म० नि० २.७७, उपालिसुत्त)

– भंते, प्रशंसनीय की प्रशंसा कौन नहीं करेगा? गुणवंतों के गुण कौन नहीं गायेगा?

परंतु साथ साथ यह भी सच है कि भगवान के समस्त गुणों का पूरा-पूरा आख्यान कौन कर पाये भला! अतः ब्राह्मण ब्रह्मायु के शिष्य उत्तर माणवक के शब्दों में यही कहना पड़ता है कि–

**एदिसो च, एदिसो च सो भवं गोतमो** – आप गौतम ऐसे हैं और ऐसे हैं, परंतु यही नहीं, बल्कि–

**ततो च भिय्यो** – इससे भी अधिक हैं। (म० नि० २.३८७, ब्रह्मायुसुत्त)

अथवा ब्राह्मण चंकी की प्रशंसाबहुल वाणी में यही कहना पड़ता है कि

**एत्तके खो अहं, भो तस्स भोतो गोतमस्स वण्णे परियापुणामि,**

– मैं आप गौतम के इतने ही गुण बताता हूं,

**नो च खो सो भवं गोतमो एत्तकवण्णो।**

– लेकिन वे आप गौतम केवल इतने ही गुण वाले नहीं हैं।

**अपरिमाणवण्णो हि सो भवं गोतमो।** (म० नि० २.४२५, चङ्कीसुत्त)

– वे आप गौतम अमित गुण वाले हैं, अपरिमित गुण वाले हैं।

ऐसे अमित, अपरिमित गुण वाले भगवान के गुणों का परिपूर्ण वर्णन कर सकना केवल चंकी ब्राह्मण के लिए ही नहीं, बल्कि किसी के लिए भी सरल नहीं है। वर्णन करने वाला सदा **अतित्तो** यानी अतृप्त ही रहता है।

यों अतृप्त रहते हुए भी इस अपूर्ण प्रयास द्वारा हमने तिपिटक में भगवान बुद्ध की मनोहारिणी **पासादिकं पसादनीयं** रूपकाया की और उससे भी कहीं अधिक सौम्य उनकी दिव्य, भव्य, सर्वगुणसंपन्न कल्याणी धर्मकाया की कुछ एक मंजुल झांकियां देखीं।

**इतिपि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा'ति।**

---